

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 28 • अंक 109 • अप्रेल-सितम्बर, 2000

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)

સાધુજ્ઞાન સામ્રાજ્ય

Jain Education Society Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

मुक्ति का आरोहक्रम

1. जीव-अजीव का ज्ञान
2. जीवों की बहुविध गतियों का ज्ञान
3. पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष का ज्ञान
4. भोग-विरक्ति
5. आन्तरिक और बाह्य संयोग-त्याग
6. अनगार-वृत्ति
7. अनुत्तर-संवरयोग की प्राप्ति
8. स्वरूप बाधक कर्मों का विलय
9. केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि
10. अयोग-अवस्था, सिद्धत्व-प्राप्ति

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ :

भिखुराम जैन

राईस ब्रान मर्चेन्ट

पो. टिटिलागढ़-767 033

जिला ब्लागीर (उड़ीसा)

फोन : 06655-20208, 20387, 20041

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 109

April to September, 2000

Patron

Prof. B.C. Lodha

Vice-Chancellor

Executive-Editor & Editor in Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur

Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta

Dr R.P. Poddar, Pune

Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur

Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun

Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun

Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun

Dr J.P.N. Mishra Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 109

APRIL-SEPTEMBER, 2000

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

Ladnun-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University),
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Rajendra Offset Printer, Didwana-341 303 (Rajasthan)

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015 (Rajasthan)

Subscription (Individuals) Annual Rs. 100, Three Year 250, Life Membership Rs. 1500/-
Subscription (Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

अनुक्रमणिका / Contents

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
1. सम्पादकीय	डॉ. शान्ता जैन	1
2. पदार्थ संग्रह की चेतना का परिष्कार	आचार्य महाप्रज्ञ	5
3. दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय	डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'	11
4. सन्त परम्परा की उपयोगिता	डॉ. प्रभाकर माचवे	22
5. वनस्पति : एक विमर्श	साध्वी विमलप्रज्ञा	31
6. द्वन्द्व और द्वन्द्व-निवारण	डॉ. सुरेन्द्र वर्मा	41
7. आचार्य विद्यानन्दकृत नैगमनय तथा नैगमाभास के भेद-प्रभेद	कुमार अनेकान्त जैन	63
8. संघर्ष निराकरण एवं मानवाधिकार	डॉ. बच्छराज दूगड़	63
9. भारतीय वाङ्मय में पुरुषार्थ	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	70
10. श्रावकाचार का नवाचार	मुमुक्षु शान्ता जैन	77
11. Jainism and Sāṅkhya	Nagin J. Shah	94
12. The Jaina School of Mathematical Philosophy	Prof. L.C. Jain	104
13. Jainism and Modern Life	C.C. Shah	118
14. Peace Through Science of Consciousness	Muni Dharmesh & Dr. B.P. Gaur	124
15. Despair (विषाद) as explained by Paṇḍitarāja in Rasagaṅgādhara	Dr. Dhananjaya Bhanja	136
16. Terrorism and Anuvrat	Dr. Anil Dutta Mishra	139

पार्श्व स्तुति संदोह

तुलसी प्रज्ञा का अभिनव विशेषांक

भगवान पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा के तेईसवें तीर्थकर हैं। उनकी जितनी स्तुतियाँ, स्तवनाएँ उपलब्ध हैं, अन्य तीर्थकरों की नहीं। 'तुलसी प्रज्ञा' का यह अंक भगवान पार्श्व की स्तुतियों, स्तवनाओं, स्तोत्रों, दोहों, श्लोकों एवं गीतिकाओं का अनूठा संकलन है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और लोक भाषा में निबद्ध यह 'पार्श्व स्तुति संदोह' स्तुति साहित्य की परंपरा का एक पुरुषार्थी प्रयत्न कहा जा सकता है। पार्श्व स्तुतियों का एक साथ इतना बड़ा संकलन-संयोजन अन्यत्र देखने में नहीं आया। इस दृष्टि से 'तुलसी प्रज्ञा' का यह विशिष्ट विशेषांक हर जैन परिवार, संस्थान, मन्दिर एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है। अतः पत्रिका के सदस्य पाठकों के अतिरिक्त इस पुस्तक को सब तक पहुँचाने की व्यवस्था की गई है। इस अंक को प्राप्त किया और कराया जा सकता है -

- तुलसी प्रज्ञा के आजीवन सदस्य बनकर।
- अपने अर्थ सौजन्य से निर्णीत विद्वानों को भेजने की व्यवस्था कर।
- पर्वों, त्यौहारों, उत्सवों, जन्म-विवाह तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक आयोजनों में भेंटस्वरूप देकर।

'पार्श्वनाथ स्तुति संदोह' आप अवश्य पढ़ें एवं सबको पढ़ने की प्रेरणा दें।

एक प्रति मूल्य 100/- रुपये मात्र, पचास पुस्तकों से ज्यादा मँगवाने पर 40 प्रतिशत की छूट, पत्रिका की आजीवन सदस्यता 1500/- रुपये।

सम्पादक

विनम्र निवेदन

जैन विश्वभारती संस्थान द्वारा प्रकाशित त्रैमासिकी शोध पत्रिका 'तुलसी प्रज्ञा' का यह 109वाँ अंक आपके हाथों में है। यह गौरव की बात है कि इस शोध-पत्रिका ने जैन-धर्म, दर्शन, कला साहित्य, शोध, साधना और संस्कृति से जुड़कर अन्य धर्म, दर्शन तथा चिन्तन को भी समन्वयात्मक रूप से सदा स्वीकारा है। सुधि लेखकों और पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि आप संवाद, सम्पर्क, सम्प्रेषण एवं अपनी शोध-साहित्य-साधना से सदा इसके विकास में अपनी सहभागिता देते रहें। इस परम्परा को समृद्ध करते रहें। ज्ञानसंवर्द्धन एवं नये तथ्यों की खोज में हमारे सफल प्रयत्नों के साथ आप भी सदा साथ रहें। इसी आशा और विश्वास के साथ -

"ज्ञानाराधना में तुलसी प्रज्ञा आप भी पढ़ें सबको भी पढ़ायें।"


सम्पादक

फिर एक दुर्लभ अवसर मिला है

महावीर एक व्यक्ति नहीं, संस्कृति है। उनका सम्पूर्ण जीवन, दर्शन, विचार, सिद्धान्त और साधना सत्य की तलाश में आज भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनकी आर्षवाणी में युगीन समस्याओं का सटीक समाधान है। उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त जैसे ऋषिमंत्र देकर मानवीय मूल्यों का योगक्षेम किया है।

अहिंसा के द्वारा प्राणी पदार्थ, प्रकृति, परिवेश और पर्यावरण के प्रति संवेदनशील होकर सह-अस्तित्व और विश्वमैत्री के संस्कारों में जी सकता है। अपरिग्रह के द्वारा मनुष्य इच्छाओं का संयमन और पदार्थों का सीमाकरण कर आवश्यकता, आकांक्षा और उपादेयता के बीच विवेक चेतना जगा सकता है। अनेकान्त के द्वारा व्यक्ति सत्य की खोज में पारदर्शी सोच, सापेक्ष-दृष्टिकोण, अनाग्रही मन का निर्माण कर लक्षित उद्देश्य मंजिल तक पहुंच सकता है। भगवान महावीर के जीवन-दर्शन के प्रमुख उपदेशों की यह त्रिपुटी मनुष्य के व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

यह त्रिपुटी एक दूसरे से जुड़ी है। अपरिग्रही चेतना जागने पर अहिंसा स्वतः वहां जन्म लेती है। अहिंसा - अपरिग्रह की समन्विति में अनेकान्त भी सहज फलित होता है। क्योंकि अनेकान्त कोई दर्शन, सिद्धान्त या शास्त्र नहीं, एक विचार है, जीने की शैली है। अनेकान्त व्यक्तित्व विकास की प्रयोगशाला है। सन 2001 में सम्पूर्ण जैन समाज भगवान महावीर की 26 सौ वीं जन्म जयन्ती मना रहा है। सभी सम्प्रदायों में इस प्रसंग पर विविध योजनाएं निर्णय बनकर क्रियान्विति की ओर बढ़ रही हैं। दिल्ली में जैन समाज की राष्ट्रीय समिति का गठन हुआ है। इस वर्ष को अहिंसा वर्ष भी घोषित किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री महाप्रज्ञ के दिशानिर्देशन में 'अनेकान्त' विषय पर जैन विश्व भारती, संस्थान-मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं भी व्याख्यानमाला एवं सेमीनार समायोजित कर रहा है। देश विदेशों के 101 विश्व विद्यालयों में प्रशिक्षित प्रवक्ताओं को भेजकर व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार-कार्य करने का दायित्व स्वयं संस्थान ने स्वीकार किया है। इस दिशा में संस्थान का सभी विश्वविद्यालयों से सक्रियता के साथ सम्पर्क साधा जा रहा है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  1

इस कार्य की संयोजना का उद्देश्य रहा है कि भगवान महावीर का दर्शन सब तक पहुंचे, क्योंकि युगीन सन्दर्भों में महावीर के विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक एवं उपयोगी लगते हैं जितने हजारों वर्षों पूर्व लगते थे।

आज भी आदमी भीतर से आदम युग का आदमी बनकर जी रहा है। आज जरूरत है विचारक्रांति के साथ व्यक्तिक्रांति की। सिर्फ व्यवस्था बदले और व्यक्ति नहीं तो सार्थक परिणाम संभव नहीं होते। अतः व्यक्ति की दिशा और दशा के परिष्कार में सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण होना भी अत्यावश्यक है।

संसार विरोधी धर्मों का समवाय है। सबके स्वभाव, आदतें, इच्छाएं रुचियां, विचार, कर्म, योग्यताएं एक-सी नहीं होती। इस वैविध्य में यदि आग्रही पकड़ हो जाए कि मैं सही हूँ और सब गलत तो एक पक्षीय स्वीकृति हमें सत्य तक नहीं पहुंचने देगी।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। सारे धर्म एक साथ न व्यक्त होते हैं और न ही उनकी एक साथ व्याख्या की जा सकती है। पर्याय प्रतिक्षण बदलती है। एक समय में एक ही पर्याय को जीया जा सकता है, देखा जा सकता है। सर्वज्ञ भी वस्तु के अनन्त धर्मों को एक साथ जान सकते हैं मगर कह नहीं सकते। अतः सम्पूर्ण को ग्रहण करने का दावा सही नहीं होता।

सत्य की खोज में इसी ऋजु दृष्टिकोण की जरूरत है। हम स्वयं को सही माने और दूसरों को गलत कहें, यह सत्य की स्वीकृति नहीं। औरों की अपेक्षाएं भी आदेय है। अपने विचारों की प्रशंसा और दूसरों की आलोचना सत्य की स्वीकृति नहीं, यह सिर्फ स्वार्थों की आग्रही पकड़ है।

आज जहां भी संघर्ष हैं, मतभेद हैं, वैचारिक विवाद हैं, वैमनस्य का तनाव भरा माहौल है, घृणा है वहां सही समझ, शांति, सन्तुलन, समन्वय, सौहार्द संभव नहीं। इसलिए सत्योपलब्धि में ऋजुधर्मी होना जरूरी है, क्योंकि धम्मो शुद्धस्स चिट्ठई, धर्म. शुद्धात्मा में ही उहरता है।

अनेकान्त के साथ अहिंसा, अपरिग्रह, मैत्रीभाव, सह-अस्तित्व एवं समन्वय की भावना जुड़ी है। अनेकान्त के बिना राग द्वेष का उपशमन संभव नहीं है। वस्तु एक होते हुए भी राग या द्वेष की आंखों से देखने पर वह अपना स्वरूप बदल लेती है, इसीलिए कहा गया-परस्परपग्रहो जीवानाम्-परस्पर में एक दूसरे का सहयोग लेना प्रकृति का नियम है। जन्म है तो मृत्यु भी है, सुख है तो दुःख भी है, आशा है तो निराशा भी है। प्रतिभावों का युगल जीवन का सत्य है। इस सत्य तक पहुंचने का मुख्य रास्ता है अनेकान्त। जहां न पक्षपात है, न अहं संपोषण, न प्रतिस्पर्धा, न अधिकारों की लड़ाई। स्वार्थों की आग में परमार्थ तपकर सामने आता है।

हमारा अहोभाग्य है कि हमें जीवन में बार-बार उद्बोधन मिलता है— 'उठिए गो पमाइए' अनेक ऐसे निमित्त मिलते हैं जो उत्सव, आयोजन, धार्मिक अनुष्ठान या पर्व बनकर भीतर के उपादान का शोधन करते हैं। भगवान महावीर की 26 वीं जन्मशती ऐसी ही एक सार्थक प्रस्तुति है जिसने फिर एक बार आह्वान किया है—स्वयं को सोए से जगाने का।

गीता में भगवान ने कहा था—जब-जब संसार में दुःख, अशांति, विपदा होंगे, मैं पुनः जन्म धारण करूंगा। आज सम्पूर्ण विश्व हिंसा, आतंक, क्रूरता, अन्याय, शोषण अनीति की आग में झुलस रहा है। रोटी, मकान, कपड़ा, शिक्षा, चिकित्सा एवं रोजगार की समस्या से भी अधिक समस्या बन गई है आवश्यकता और आकांक्षाओं की अन्तहीन दौड़। ऐसे में महावीर का पुनर्जन्म हम सब चाहेंगे। मगर जैन परम्परा में महावीर का पुनर्जन्म संभव नहीं है, क्योंकि वे जन्म मृत्यु से मुक्त सिद्ध बन चुके हैं। अतः हम भगवान महावीर की इस जन्मशती को ही अपने पुनर्जन्म का निमित्त बना लें ताकि हमारे भीतर जीवन का दर्शन अवतरित हो जाए।

आज से 26 वर्ष पहले पूरे जैन समाज ने भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी पर बैठकर अनेक मुद्दों की रचनात्मक सोच को निर्णय में बदला था, आज उस दिशा में शेष बचे कार्यों को नए जोड़ के साथ लक्ष्य तक पहुंचाना है। एकता, संगठन, सौहार्द, समन्वय, साधर्मिक भावों से जुड़कर आज जो सह-चिन्तन एवं सह-कर्म कर सकेंगे, उनका प्रभाव, उनकी फलश्रुतियां अवश्य नए पदचिन्ह बनाएंगीं। आज जरूरत कलम के तेज धार की, भाषण के तीखे तेवर की, जोरदार नारों की और बड़े-बड़े वायदों की नहीं है, आज अपेक्षा सिर्फ इतनी सी है कि हम स्वयं आईने में अपना अक्ल देखना सीख जाएं ताकि औरों को पूछना न पड़े कि मैं कितना सुन्दर हूँ?

एक ही प्रभु की पूजा करने वाले हम विभक्तियों में न बंटे कि कोई हमारे वजूद को ही मिटाने लगे। यही समय है, पूरा जैन समाज सापेक्ष-चिन्तन का विकास करे। अनाग्रही मन की साधना साधे। सबमें सबका हित देखे। जैन एकता की सही पहचान बने ताकि भावी पीढ़ियां हम पर अंगुली कभी न उठाये। इस वर्ष 'तुलसी प्रज्ञा' भी भगवान महावीर के अहिंसा और अनेकान्त विषय पर शोधपरक सामग्री प्रकाशित करना चाह रही है। विद्वानों एवं शोधार्थी प्रबुद्धजनों से सादर निवेदन हैं कि अपने सारगर्भित सामयिकी आलेख भेजकर इस लघु प्रयत्न-चिन्तन को सार्थक ऊंचाई दें।

—मुमुक्षु शान्ता

जैन पारिभाषिक कोश का कार्य—सम्पादन

आगम सम्पादन एवं आगम अनुसन्धान का कार्य एक कठिन तपस्या है। इस श्रुतयज्ञ के अनुष्ठान में श्रम, समय, शक्ति, संकल्प और साधना को बिना समर्पित किए कार्य आगे नहीं बढ़ सकता। इस कार्य में पारदर्शी प्रतिभा, अनाग्रही सोच, सत्यग्राही बुद्धि एवं आगमों का गहन ज्ञान अपेक्षित होता है। बिना भागीरथ प्रयत्न किए आगम कार्य पूर्णता तक नहीं पहुंचता। जैन तेरापंथ सम्प्रदाय में वर्षों से आगमों के सम्पादन, अनुशीलन एवं अध्ययन-अध्यापन का सचेतन पुरुषार्थ चालू है। आचार्य श्री तुलसी की वाचना में आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने इस दिशा में अनेक आगम ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद, भाष्य, टीका आदि का दुरूह कार्य सम्पन्न कर ज्ञान सम्पदा का योगक्षेम किया है, जैन समाज उनके प्रति कृतज्ञता और कृतार्थता का अनुभव करता है।

इस वर्ष भी सन् 2000 के लाडनू चातुर्मास में अन्य अनेक महत्वपूर्ण कार्यों की बहुलता होते हुए भी आपने जैन पारिभाषिक शब्दकोश को जो पिछले दो वर्षों से अधूरा पड़ा था, पूर्णता देने का संकल्प किया है। आपका चिन्तन रहा है कि आने वाला युग आंग्ल भाषा का युग होगा, अतः जैन आगमों का पारिभाषिक शब्द कोश अंग्रेजी भाषा में बनाया जाए ताकि जैन साहित्य के अनुवाद में यह एक मॉडल का काम कर सके। गुरुदेव तुलसी की अनुज्ञा पाकर सन् 1996 के लाडनू चातुर्मास में इस कार्य को आपने शुरू कर दिया। डॉ. नथमल टाटिया, कुछ साध्वियां और समणियां इस कार्य में संलग्न रहीं। सबसे पहले ठाणों के पारिभाषिक शब्दों का चयन किया। प्रायः सभी शब्दों का विमर्श आचार्यवर के साथ करने के बाद डॉ. टाटिया उनका अंग्रेजी में अनुवाद करते। उस समय एक केनेडियन महिला (एने) भी साथ बैठती थी। डॉ. टाटिया अनुवाद करने के बाद उस कार्ड को उसे दिखाते। वह जैन-धर्म से परिचित थी। इसलिए परिभाषा को गहराई से देखती और अपना उचित परामर्श भी देती। उस समय लगभग 1300 शब्दों की परिभाषाएं तैयार हो गई थी। भगवती और पन्नवणा को छोड़कर प्रायः सभी आगमों के शब्दों का चयन कर लिया गया था।

आचार्यवर की अत्यधिक व्यस्तता के कारण वह कार्य बीच में ही रुक गया। गत वर्ष दिल्ली चातुर्मास में आचार्यवर ने चिन्तन किया था कि इस कार्य को सम्पन्न करना चाहिए। वहां भी आचार्यवर का कार्यक्रम बहुत अधिक व्यस्त रहा। पर इस चातुर्मास में यह निर्णय ले लिया गया कि वहां इस कार्य को सम्पन्न करना है। लाडनू पधारते ही आचार्यवर ने डॉ. दयानन्द भार्गव को इस कार्य में सम्मिलित होने के लिए निर्देश दिया। डॉ. भार्गव आचार्यवर के साहित्य का काम कर रहे हैं फिर भी वे इस कार्य में साथ हो गए।

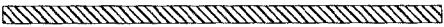
आचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं युवाचार्य श्री महाश्रमण के सान्निध्य में जैन पारिभाषिक कोश सम्पादन का कार्य द्रुतगति से निरन्तर चल रहा है। पन्नवणा का कार्य सम्पन्न हो चुका है। संप्रति भगवती के पारिभाषिक शब्दों के संचयन का कार्य चल रहा है। विश्वास है, यह कार्य इसी चातुर्मास में पूरा हो जाएगा। इस कार्य में साध्वी विश्रुतविभाजी, समणी नियोजिका मुदित प्रज्ञाजी आदि कई समणियां लगी हुई हैं। श्रुताराधना का पुरुषार्थी प्रयत्न आचार्य श्री महाप्रज्ञ के दिशानिर्देशन में शीघ्र ही प्रबुद्ध जनों के हाथों में गुरु कृपा का प्रसाद बनकर पहुंचेगा, ऐसी आशा है।

पदार्थ संग्रह की चेतना का परिष्कार

✍️ आचार्य महाप्रज्ञ

आत्मा अदृश्य है और शरीर दृश्य है। शरीर के लिए आवश्यक है पदार्थ। पदार्थ की प्राप्ति के लिए आवश्यक है धन, परिग्रह, संग्रह। यह एक स्पष्ट आवश्यकता का वलय है। धन के बिना पदार्थ की प्राप्ति नहीं तो पदार्थ के बिना जीवन का संचालन नहीं। जीवन के बिना शरीर का कोई अर्थ नहीं। कैसे परिग्रह से मुक्ति पाई जाये? कठिन प्रश्न है और संभव भी नहीं कि पदार्थमुक्त कोई जी सके और बिना साधन के पदार्थ मिल जाए। यह एक ऐसा चक्रव्यूह है जिसमें से निकला नहीं जा सकता। सहज प्रश्न होता है कि परिग्रह को त्याज्य क्यों माना जाए? जब पदार्थ त्याज्य नहीं है, छोड़ा नहीं जा सकता तो फिर परिग्रह को, संग्रह को कैसे छोड़ा जा सकता है? यदि परिग्रह केवल जीवन-यात्रा निर्वाह के लिए होता, आवश्यकता पूर्ति के लिए होता तो उस पर इतना दीर्घकालीन चिन्तन करने की आवश्यकता शायद नहीं होती। आवश्यकता बिल्कुल गौण हो गयी, सुविधावाद, उपभोग और विषय के प्रति आसक्ति-मूर्च्छा, ये मुख्य बन गईं तब परिग्रह के विषय में चिन्तन करना आवश्यक हो गया।

अहिंसा पर चिन्तन किया तो एक जटिल समस्या सामने आई-हिंसा करना मनुष्य का स्वभाव है या किसी प्रयोजनवश हिंसा करता है? यदि स्वभाव है तो फिर अहिंसा का सिद्धान्त बहुत ज्यादा सार्थक नहीं होगा। मनुष्य किसी प्रयोजनवश हिंसा करता है तो उस प्रयोजन की खोज होनी चाहिए। प्रयोजन पर जब ध्यान

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  5

दिया गया तो एक स्पष्ट प्रत्यक्ष दर्शन हो गया जिसका महावीर वाणी में उल्लेख मिलता है कि परिग्रह के लिए ही मनुष्य प्राणियों का वध करता है।

आचारांग सूत्र में जहां अहिंसा का चिन्तन शुरू हुआ है वहां एक-एक अवयव के लिए मनुष्य हिंसा करता है। सींग के लिए हिंसा करता है, चमड़े के लिए हिंसा करता है, दांत के लिए हिंसा करता है, वसा के लिए हिंसा करता है। सारे प्रयोजन बतलाये कि हिंसा के प्रयोजन क्या है? हिंसा के प्रयोजन की चिन्ता में जो सबसे बड़ा तत्व सामने उभर कर आता है वह है परिग्रह। परिग्रह हिंसा का मूल कारण है। अगर हम परिग्रह पर विचार न करें तो अहिंसा पर कोई विचार पूरा हो नहीं सकता, बात अधूरी रहेगी। मानना चाहिए कि हिंसा का कारण छिपा हुआ है और हिंसा हमारे सामने आती है। अहिंसा का कारण भी छिपा हुआ है और अहिंसा हमारे सामने आती है। इसीलिए अहिंसा को पहला स्थान मिला, क्योंकि प्रयोग में ज्यादा दर्शन हमें उसका होता है। किन्तु वास्तव में हिंसा से ज्यादा जटिल समस्या है परिग्रह की।

अहिंसा से भी ज्यादा मूल्य है अपरिग्रह का। परिग्रह का प्रारम्भ बिन्दु है शरीर का मोह। मनुष्य जीना चाहता है और शरीर को सुरक्षित रखना चाहता है। स्थानांग सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाये हैं, उनमें पहला प्रकार है—शरीर। परिग्रह का मूल आधार है शरीर। दूसरा कारण और प्रकार है—कर्म संस्कार। जो संस्कार हमने अर्जित कर रखे हैं, वे संस्कार ही मनुष्य को परिग्रही बनने के लिए प्रेरित करते हैं। हिंसा के लिए प्रेरित करते हैं। तीसरा प्रकार है परिग्रह का। जब अपरिग्रह पर विचार किया गया तो पहला सिद्धान्त निश्चित हुआ ममत्व—चेतना का परिष्कार। हमारी जो ममत्व की चेतना है उसका परिष्कार होना चाहिए। आचारांग सूत्र का बहुत स्पष्ट एक निर्देश है कि ममत्व का त्याग वह कर सकता है जो ममत्व की बुद्धि का परित्याग करता है। ममत्व की चेतना का परिष्कार करता है वह ममत्व का परित्याग कर सकता है। चेतना का रूपान्तरण नहीं होता तब तक परिग्रह की तरफ होने वाली मूर्च्छा कम नहीं हो सकती।

मनोविज्ञान का एक बहुत सुन्दर सूत्र मिलता है जो ममत्व चेतना का समर्थन करने वाला है। मानसशास्त्र में अनेक मनोवृत्तियां मानी गईं, आखिर मानसशास्त्री एक निष्कर्ष पर पहुंचे कि एक मनोवृत्ति में सबका समावेश हो सकता है और वह है अधिकार की भावना। हर प्राणी में अधिकार की मनोवृत्ति है। हर व्यक्ति एक दूसरे पर अधिकार जमाना चाहता है और पदार्थ पर भी अपना अधिकार स्थापित करना चाहता है। अहिंसा की व्याख्या में जो आचारांग सूत्र का निर्देश मिलता है वह इसी ओर इंगित करता है कि किसी पर हुकूमत मत

करो। अधिकार मत जमाओ। यह अधिकार की भावना परिग्रह है। वह हिंसा को जन्म देती है। संग्रह की मनोवृत्ति को ममत्व की चेतना का फलित मानना चाहिए। ममत्व चेतना है, इसलिए अधिकार की मनोवृत्ति है, संग्रह की मनोवृत्ति है। अपरिग्रह का विमर्श हो वहां ममत्व की चेतना का भी परिष्कार हो, यह पहला आचार बनेगा। इसके लिए ही भेद-विज्ञान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया।

भेदविज्ञान शरीर और आत्मा में भेद की अनुभूति कराता है। यदि भेदविज्ञान सिद्ध होता है तो पदार्थ के प्रति मूर्च्छा अपने आप हट जाती है। जब तक यह अभेद की बुद्धि है तब तक मूर्च्छा बढ़ती चली जायेगी। पदार्थ के द्वारा ही सब कुछ मेरा हो रहा है। यह एक समारोपण हो गया कि अज्ञानी आदमी सोचता है कि पुद्गल से, पदार्थ से ही मेरा सारा काम चलता है, मेरी सारी तृप्तियां हो रही हैं। जब ज्ञान का उदय होता है, ज्ञानयोग में समावेश होता है तो चिन्तन बदलता है कि यह पर तृप्ति है। 'पदार्थ से होने वाली तृप्ति' यह एक आरोपण किया गया है। वास्तव में यह तेरा स्वरूप नहीं है और तुम्हारी तृप्ति भी नहीं होती। अतृप्ति और बढ़ती चली जाती है।

अध्यात्म का सिद्धान्त स्थापित हुआ—जैसे-जैसे पदार्थ का सेवन करो, तुम्हारी अतृप्ति और बढ़ती चली जायेगी और वह न करो तो अतृप्ति का विकल्प रहेगा। सेवन करो, अतृप्ति बढ़ती चली जायेगी। यह पर-तृप्ति का समारोपण है।

यथार्थ के धरातल पर सोचें कि सामाजिक व्यक्तित्व परिग्रह से मुक्त नहीं हो सकता, यह निश्चित सिद्धान्त है। पदार्थ से मुक्त नहीं हो सकता और परिग्रह से भी मुक्त नहीं हो सकता। एक संन्यासी के लिए, साधु के लिए एक विकल्प आता है कि वह पदार्थ से मुक्त तो नहीं हो सकता पर परिग्रह चेतना से मुक्त हो सकता है। किन्तु एक सामाजिक प्राणी के लिए पदार्थ से मुक्त होना और ममत्व की चेतना से मुक्त होना या संग्रह से मुक्त होना, दोनों संभव नहीं है। फिर प्रश्न उलझ गया कि यदि एक सामाजिक प्राणी पदार्थ से मुक्त नहीं हो सकता और धन से भी मुक्त नहीं हो सकता तो फिर अपरिग्रह की चर्चा अर्थहीन चर्चा है। इसका समाधान किया गया कि वह चर्चा अर्थहीन नहीं है। अपरिग्रही नहीं हो सकता किन्तु परिग्रह की सीमा करना उसके लिये अनिवार्य है। इच्छा-परिमाण उसके लिए आवश्यक है। एक सुन्दर शब्द का चयन हुआ—इच्छा का परिमाण, पदार्थ का परिमाण, संग्रह का परिमाण और उपभोग का परिमाण। तीनों जुड़े हुए हैं। यदि उपभोग की सीमा नहीं है तो पदार्थ की सीमा नहीं हो सकती। पदार्थ की सीमा नहीं है तो परिग्रह की सीमा नहीं हो सकती। उपभोग के लिए बहुत पदार्थ चाहिए। इसे रोका नहीं जा सकता। सबसे पहले तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000

अपरिग्रह पर विचार करें तो उपभोग पर विचार होना चाहिए। उपभोग की सीमा हो। मैं इतने से ज्यादा वस्तुओं का उपभोग नहीं करूंगा।

सिद्धान्त है कि पदार्थ कम, उपभोक्ता ज्यादा। वस्तु कम है और खाने वाले ज्यादा हैं, संघर्ष अनिवार्य है। युद्ध भी अनिवार्य है। हिंसा अनिवार्य है, इसे रोका नहीं जा सकता। हम संग्रह पर विचार करने के पहले विचार करें उपभोग पर। उपभोग की सीमा उतनी हो जितना आवश्यक उपभोग होता है पानी का, आज के वातावरण में बिजली का, खाद्य वस्तुओं का, कपड़ों का और भी अनेक पदार्थों का। अनावश्यक उपभोग की कोई सीमा नहीं है। यदि कोई इच्छा-परिमाण की साधना करना चाहे, अपरिग्रह की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाना चाहे तो उसे संग्रह की सीमा करने से पहले उपभोग की सीमा करना आवश्यक होगा।

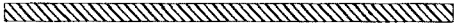
उपभोग सीमित है तो पदार्थ की अपेक्षा सीमित हो जाएगी। पदार्थ की अपेक्षा सीमित है तो इच्छा अपने आप सीमित हो जाएगी। हम सीधा इच्छा को पकड़े और उसका परिमाण करें, बात बहुत कठिन है। उपभोग की लालसा प्रबल और उपभोग की पूर्ति के लिए पदार्थ की लालसा प्रबल और इच्छा का परिमाण करें तो एक अन्तर्द्वन्द्व पैदा होगा। इस समस्या पर अधिक आकृष्ट होना जरूरी है। पहला व्रत आज हम निर्धारित करें।

श्रावक की आचार-संहिता का पहला व्रत होना चाहिए—उपभोग का परिमाण। दूसरा व्रत होना चाहिए—अनर्थ हिंसा का परिमाण। मैं प्रयोजन के बिना हिंसा नहीं करूंगा। प्रयोजन जीवन की आवश्यकता है। वैसे प्रयोजन तो बहुत लम्बा चौड़ा हो सकता है किन्तु जीवन के लिए अनिवार्यता है, आवश्यकता है, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा हो जाती है, उसके सिवाय नहीं करूंगा और उससे ज्यादा परिग्रह का संग्रह नहीं करूंगा। हम चलें कि हमें उपभोग की सीमा करनी है। अनावश्यक हिंसा से बचना है। उसके साथ तीसरा प्रयोजन है पदार्थ के संग्रह की सीमा। इतने से ज्यादा पदार्थों का संग्रह नहीं करूंगा। इतने परिमाण से ज्यादा धन नहीं रखूंगा। इसका फलित होगा—इच्छा का परिमाण। यह नहीं होता है तो इस अवस्था में परिग्रह की चेतना, ममत्व की चेतना व्यक्ति को आचार से दूर ले जाती है और सामाजिक हित और समाज व्यवस्था से भी दूर ले जाती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का एक सूत्र और महत्वपूर्ण है 'आलिय नियडि, साय समावोगे।' एक व्यक्ति झूठ बोलता है, मायाचार करता है, मिलावट करता है, झूठा तौल-माप करता है, नकली वस्तु बेचा करता है, ये सब किसलिए करता है? उत्तर में कहा जा सकता है कि वह परिग्रह के लिए करता है, अधिक धन अर्जन करने के लिए करता है।

अपरिग्रह के साथ सत्य का भी बहुत गहरा सम्बन्ध है और परिग्रह का भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। मिथ्या या असत्य भाषण के साथ, असत्य आचरण के साथ कारण बतलाये गये, उनमें एक है लोभ के कारण मनुष्य झूठ बोलता है, मायाचार करता है। यह सब परिग्रह के लिए होता है। एक परिग्रह की चेतना का परिष्कार होता है, ममत्व की चेतना का परिष्कार किया जाता है तो शायद आचार की बहुत सारी समस्याएं अपने आप सुलझती हैं।

ऐसा लगता है कि केन्द्र में परिग्रह बैठा है। ममत्व बैठा है। पदार्थ मेरा है, यह स्वीकार हिंसा को भी बढ़ावा देता है, असत्य को भी बढ़ावा देता है, चोरी भी होती है और अब्रह्मचर्य की बात को भी आगे बढ़ाता है। 'पदार्थ मेरा नहीं है और पदार्थ मेरा है' इन दो प्रश्नों पर हम विचार करें। भेदविज्ञान पुष्ट होगा तो पदार्थ मेरा नहीं है, यह धारणा पुष्ट होगी। 'मेरा मन' यह हमारी मति में है तो फिर सारी समस्याएं पैदा हो जाती हैं। मूल दृष्टि से वस्तु को त्यागने पर बल दिया जाता है और उसे प्राथमिकता दी जाती है। आचार की समस्या इसीलिए उलझ रही है और इसीलिए धर्म की तेजस्विता भी कम हुई है कि त्याग पदार्थ के साथ जुड़ गया। त्याग जुड़ना चाहिए पदार्थ की चेतना के साथ। तेरापन यह नम्बर दो की समस्या पैदा करता है किन्तु यह मेरेपन की चेतना है, यह नम्बर एक की समस्या है। पदार्थ की चेतना का परिष्कार करने के लिए यह भेदविज्ञान का सिद्धान्त 'मेरा नहीं है,' आवश्यक है। इसके प्रति हमारा आचारशास्त्र में दृष्टिकोण कम है और इस पर बल भी कम दिया जाता है। भेदविज्ञान की चेतना को जगाये बिना पदार्थ को छोड़ना भी कैसे हो सकता है? हमारा सारा भोग्य जगत है शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शात्मक। ये हमारे विषय हैं, भोग्य पदार्थ हैं। त्याग करने की जो प्रथा है, मैं शब्द नहीं सुनूंगा, मैं अमुक रस का सेवन नहीं करूंगा, यह आचार का एक अंग बन गया। मुख्यतः आचार का अंग है विषय का जो विकार है, उस विकार की चेतना का पहले त्याग हो तो विषय का त्याग सुलभ होगा अन्यथा विषय को छोड़ा पर विषय के प्रति वह लालसा नहीं टूटी। हर बार वह चेतना सामने आती है और सताती है।

पांच इन्द्रियां के जो विषय हैं, जिनके द्वारा हम भोग करते हैं— शब्द सुनना बन्द कर दिया, रूप देखना बन्द कर दिया, आंखें बन्द कर ली, सूंघना बन्द कर दिया, खाना भी छोड़ दिया पर रस नहीं छूटा। विषय छूट गये। इसीलिए दो शब्द जैन साहित्य में प्रमुख रहें— विषय और विकार। पांच इन्द्रियों के 23 विषय हैं और विकार उनके 240 हैं। आचारशास्त्रीय दृष्टि से विमर्श करें तो हमें सबसे पहले विकार का बोध होना चाहिए और विकार की चेतना का परिष्कार करने की साधना होनी चाहिए। इसके साथ-साथ विषय का वर्जन। यह अधूरी बात हो जाएगी, यदि विकार का परिष्कार करने की साधना नहीं, केवल विषय को छोड़ने की

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  9

बातों की, इसीलिए आचारशास्त्रीय दृष्टि से मीमांसा आज जरूरी है कि परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा है? साधना की तेजस्विता क्यों नहीं बढ़ रही है? एक महाव्रत या अणुव्रत का जो आचार है वह मूर्तिमान क्यों नहीं हो रहा है? उसका कारण यही है कि वस्तु-त्याग या पदार्थ-त्याग प्रमुख बन गया। पदार्थ त्याग के साथ जो पदार्थ-भोग की चेतना का परिष्कार होना चाहिए वह बात बिल्कुल गौण हो गयी, अदृश्य जैसी हो गयी। इसीलिए अपरिग्रह, इच्छा-परिमाण, समाज-व्यवस्था के लिए उपयोगी नहीं बन रहा है और शायद व्यक्ति के लिए भी उपयोगी नहीं बन रहा है।

वर्तमान की समाज-व्यवस्था में यदि उपभोग का सीमाकरण, पदार्थ के संग्रह का सीमाकरण और उससे फलित होने वाला इच्छा का परिमाण, ये तीन सूत्र समाज-व्यवस्था के साथ जुड़े हुए हों तो संभव है कि अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। बहुत ज्यादा संग्रह करने वाले लोग, बहुत ज्यादा उपभोग करने वाले लोग, अमीर लोग किस प्रकार उपभोग करते हैं और कितना पदार्थों का संग्रह करते हैं, कितना इच्छाओं का विस्तार करते हैं, किसी राष्ट्र का नाम लेने की आवश्यकता नहीं किन्तु ऐसे राष्ट्र हैं जो जनसंख्या में तो बहुत कम हैं किन्तु दुनिया के बहुत बड़े पदार्थों को भोग-उपभोग में ले रहे हैं। इसीलिए समस्या पैदा हो रही है। यह वर्तमान की समस्या का एक बहुत बड़ा समाधान है इच्छा-परिमाण।

पहले पदार्थ के संग्रह का सीमाकरण करें और उपभोग का सीमाकरण करें फिर पदार्थ-संग्रह की चेतना का परिष्कार करें। इस दिशा में यदि समाज आगे बढ़ पाया तो अनेक समस्याओं का समाधान सहज-सुलभ हो जाएगा।

□□□

दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय

डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति के विकास में महनीय योगदान है। अतः श्रमण परम्परा के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का अनुशीलन अपूर्ण ही कहा जायेगा, क्योंकि श्रमणसंस्कृति भारत की पुरातन संस्कृतियों में से है। वेदों में इस परम्परा का उल्लेख स्वयं प्राचीनता का प्रमाण है। अतः इसे वैदिक परम्परा से प्राचीन कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर विशिष्ट विद्वानों ने यह स्वीकार भी किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह श्रमण, निर्ग्रन्थ, ब्रात्य या अर्हत् संस्कृति ही होनी चाहिए। यह संस्कृति सूदूर अतीत में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित होकर अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के माध्यम से परम्परा द्वारा सहस्रों समर्थ आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न चली आ रही है।

श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही हैं उनमें श्रम, संयम, त्याग, अहिंसा, और आध्यात्मिक मूल्य जैसे आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन आदर्शों के कारण इस संस्कृति ने अपनी विशेष पहचान बनाई तथा अपना गौरवपूर्ण अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जब हम सभी तीर्थंकरों के जीवन और उनके मुनि, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ के विषय में जानकारी प्राप्ति हेतु तद्विषयक उपलब्ध साहित्य का

अवलोकन करते हैं, तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक प्रत्येक के समय में हमें एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित श्रमण संघ की झलक दिखलाई देती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्मसाधना का संघीकरण तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्पष्ट दिखलाई देता है। तीर्थंकर महावीर ने तात्कालीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए श्रमणसंघ का जो लोकतंत्रात्मक स्वरूप प्रतिष्ठित किया वह अप्रतिम तो था ही, साथ ही इसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के पूर्ण अवसर भी उपलब्ध थे। संघीय अनुशासन, उसके संचालन की प्रविधियाँ और व्यवस्थायें उस युग की सर्वोच्च उपलब्धियाँ थीं।

श्रमणसंघ की व्यवस्था गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित थी और यह परम्परा आज तक चली आ रही है। संघ व्यवस्था का मूल लक्ष्य अहिंसा, स्वतन्त्रता, सापेक्षता और संयम के आधार पर आत्मकल्याण करना है। जैन शास्त्रों में संघ के पाँच आधार बताये गये हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये आधार न हों, वहाँ रहना उचित नहीं है। संघ संचालन का सम्पूर्ण दायित्व इन्हीं आधारों पर होता था। आचार्य शिष्यों को दीक्षा, व्रताचरण और अनुशासन आदि रूप अनुग्रह करने का कार्य करते, उपाध्याय शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन एवं धर्मोपदेश देने का कार्य करते, प्रवर्तक संघ का प्रवर्तन करते, स्थविर का कार्य मर्यादा का उपदेश एवं आचरण में स्थिर रखना तथा गणधर का कार्य गण की रक्षा करना था। इस तरह इन पाँच स्तम्भों से ही श्रमण संघ की परिपूर्ण प्रतिष्ठा, दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के पथ का निरन्तर विकास और मुक्ति पथ की साधना सम्भव होती है।

श्रमणाचार का विकास क्रमिक हुआ है। इसके पीछे मानव स्वभाव, देश की परिस्थितियाँ और काल का प्रभाव प्रमुख कारण रहे हैं। इसे हम उपलब्ध साहित्य, ग्रन्थ, प्रशस्तियों, पट्टावलियों और उत्कीर्ण-लेख सामग्री द्वारा समझ सकते हैं।

साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि तीर्थंकर महावीर ने अपने जीवनकाल में श्रमणसंघ के कोई भेद नहीं किये थे। उसका एक सुव्यवस्थित रूप था और इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। भगवान् महावीर स्वयं कठिन चर्या का पालन करने वाले थे। इनके निर्वाण के काफी समय तक अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर नि. सं. 492) तक निर्गन्थ महासंघ का सुसंगठित रूप अविच्छिन्न रहा। किन्तु क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन भी होता है। अखण्ड निर्गन्थ महाश्रमण भी इनसे अछूता नहीं रहा। अतः वीर निर्वाण के 6-7 सौ वर्ष बाद सर्वप्रथम निर्गन्थ महाश्रमण संघ दो परम्पराओं दिगम्बर और श्वेताम्बर में विभक्त हो गया। इस विभाजन के पीछे मत-वैभिन्य की लम्बी कहानी है, किन्तु हम यहाँ उसमें न उलझकर अपने प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करना ही अभीष्ट समझते हैं।

इस निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य विषय दिगम्बर जैन परम्परा के अन्तर्गत संघ, गण, गच्छ, अन्वय, कुल आदि की परम्परा और उसके स्वरूप का विवेचन एवं प्रतिपादन करना है। किसी भी संघ में गण, गच्छ आदि विभिन्न इकाइयाँ मूलतः विशाल संघ के सुचारू रूप से संचालन हेतु निर्मित हुई थीं। क्योंकि विशाल संघ के सुचारू रूप से संचालन हेतु संघ के कार्यों को विभाजित करके उनका व्यवस्थित कार्यान्वयन करना होता है। किन्तु देश, काल आदि के कारण इनकी आचार व्यवस्था में अन्तर पड़ता गया, जिन्होंने विभिन्न परम्पराओं अर्थात् संघों, गणों, कुलों, गच्छों आदि का रूप ले लिया। इनके विवेचन हेतु संघ, गच्छ आदि का स्वरूप प्रस्तुत है।


मूलतः इन इकाइयों में 'गच्छ' से तात्पर्य साथ-साथ रहने वाले श्रमणों के एक निश्चित समूह से था। जितने श्रमण एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास करते हैं उनके समूह को 'गच्छ' कहते हैं। विभिन्न गच्छ मिलकर 'कुल' का रूप धारण करते हैं। अतः एक ही आचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के समूह को 'कुल' कहा जाता है।

कुलों में एक ही प्रकार की आचार-विचार प्रणाली का अनुसरण करने से ये सब मिलकर 'गण' कहलाते हैं अर्थात् 'गण' का रूप धारण कर लेते हैं और गणों का समूह 'संघ' कहलाता है। इनका विवेचन प्रस्तुत है—

संघ —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समूह को संघ कहते हैं। अथवा जो श्रम अर्थात् तपस्या करते हैं उन्हें श्रमण कहा जाता है तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को श्रमण संघ कहते हैं।^१

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों (नरक, तिर्यच, देव और मनुष्य) में भ्रमण का नाशक होता है, अतः नव-प्रसूता गाय जैसे अपने बछड़े पर वात्सल्य करती है, वैसे ही प्रयत्नपूर्वक संघ पर वात्सल्य भाव रखना चाहिए।^१ नन्दिसूत्र में संघ को कमल की तरह बतलाया गया है। क्योंकि यह कमल रूपी संघ कर्मरज रूप जलराशि से अलिप्त ही रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) उसका दीर्घनाल है। पंचमहाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका तथा उत्तरगुण उसका मध्यवर्ती केशर (पराग) है, जो श्रावक रूपी भ्रमरों से सदा घिरा रहता है, जिनदेव रूप सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसमें श्रमणगण रूप सहस्र पत्र होते हैं।^१ यह 'संघ' का स्वरूप है। इसके प्रमुख को 'आचार्य' कहा जाता है।

गण— स्थविर-मर्यादा के उपदेश या श्रुत में वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) की सन्तति (परम्परा) या उनके समूह को 'गण' कहते हैं।^१ गण के प्रधान गणाचार्य, गणी या गणधर कहलाते हैं। आचारांग की शीलांकवृत्ति में कहा है कि जो आचार्य नहीं है किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  13

हो एवं गुरु की आज्ञा से साधु समूह (श्रमणगण) को लेकर पृथक् विहार करते हों, वे गणधर कहलाते हैं।^९

इस प्रकार विशालसंघ से आचार्य की आज्ञानुसार निर्धारित श्रमणों के साथ अपने सम्यक् उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अलग विचरण करे, वह श्रमणों का समूह तथा उनकी परम्परा को 'गण' कहते हैं तथा उनके प्रधान गणधर, गणाचार्य या गणी कहे जाते हैं। डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार गण का अर्थ बड़ी इकाई था, जिसका प्रबन्ध वे आचार्य करते थे जो कि अत्यन्त श्रद्धालु, सत्यवान, मेधावी, स्मृतिवान, बहुश्रुत एवं समभाव वाले होते थे। गणों का नाम प्रायः आचार्य के नाम से होता था।

मूलाचार में गण, गच्छ एवं कुल-इन शब्दों के ही उल्लेख और उसकी परिभाषाएँ मिलती हैं। परन्तु आचार्य वट्टकेर ने गण आदि निर्माण के प्रति बड़ा क्षोभ प्रकट करते हुए कहा है—'गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। विवाह से राग की उत्पत्ति होती है पर गण तो अनेक दुःखों की खान है।' (इस युक्ति के पीछे भी शायद यही भाव है कि—'हंसों की पंक्ति नहीं होती और साधु जमात बनाकर नहीं चलते)।

डॉ. गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार दक्षिण भारत में इसलिए दीर्घकाल तक भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण या गच्छ का निर्माण नहीं हो सका। इसलिए दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में महावीर के बाद की गुरु परम्परा में वीर नि.सं. 683 अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये हैं और उनकी किसी शाखाओं, प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता है। बाद में संघ एवं गणादि की उत्पत्ति में भी उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों को नहीं लपेटा।^{१०}

गच्छ—गच्छ (गाछ के वृक्ष अर्थ में), ऋषियों के समूह को कहते हैं।^{१०} सात या तीन पुरुषों के समुदाय को भी 'गच्छ' कहा जाता है।^{११} बाद में गच्छ का अर्थ शाखा भी माना जाने लगा। गच्छ के प्रमुख गच्छाचार्य कहलाते हैं। इनका कार्य गच्छ के आचार की रक्षा करते हुए स्वयं श्रेष्ठ आचार का पालन करना है।

कुल—एक ही आचार्य की शिष्य सन्तति (परम्परा) का नाम कुल है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को 'कुल' कहते हैं।^{१२} स्थानांग टीका के अनुसार कई गच्छों के समूह से 'कुल' का निर्माण होता है।^{१३} मूलाचार में कहा गया है कि जब कोई श्रमण अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन आदि के निमित्त जाता था तो वे आचार्य सर्वप्रथम उस नवागन्तुक श्रमण से नाम, गुरु आदि के साथ ही 'कुल' की जानकारी भी प्राप्त करते थे।^{१४} डॉ. चौधरी के अनुसार 'कुल' आचार्य के शिष्यों के क्रम से चले थे और


शाखायें कुलों का प्रभेद थीं।¹⁵ प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि लौकिक दोषों से रहित जो जिनदीक्षा के योग्य होता है वह कुल है।¹⁶

अन्वय—अन्वय का सामान्यतः तात्पर्य 'वंश' है। यह प्रायः स्थान विशेष नाम से स्थापित होता था। जैसे कोण्डकुण्डान्वय और चित्रकूटान्वय। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में नवीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं तो उनके लेख में प्रायः कुन्दकुन्दान्वय लिखने की परम्परा है। क्योंकि इन्हें मूलसंघ का प्रतिष्ठापक प्रमुख आचार्य माना जाता है। परवर्तीकाल में आचार्य कुन्दकुन्द के आचार की विशुद्धता, प्रभावक व्यक्तित्व और उनके द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड आदि उत्कृष्ट आध्यात्मिकता से भरपूर ग्रन्थों से लोग इतने प्रभावित हुए कि दिगम्बर परम्परा के अधिकांश संघ, गण, गच्छ आदि के प्रमुखों ने अपने को आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्दान्वय या कुन्दकुन्दान्माय से सम्बन्धित करने में गौरवान्वित समझा। लगभग 12वीं शती के बाद के मूर्ति लेखों के अध्ययन से तो मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय एक प्रतीत होते हैं।¹⁷

श्रीमती कुसुम पटोरिया ने लिखा है कि जब दिगम्बर परम्परा में कुछ शिथिलाचारी संघों का आविर्भाव हो गया, तब आचार्य कुन्दकुन्द की भाँति आचरण की विशुद्धता के पक्षपाती आचार्यों ने शिथिलाचार के विरोध में अपने संघ को तीर्थंकर महावीर के मूलसंघ के निकट (या उनकी सीधी परम्परा का) घोषित करने के लिए 'मूलसंघ' नाम दिया। क्योंकि दिगम्बरों में आचार्य कुन्दकुन्द आचरण की विशुद्धता के प्रबल समर्थक थे। अतः मूलसंघ का सम्बन्ध आचार्य कुन्दकुन्द के साथ स्थापित कर दिया तथा अपने से अतिरिक्त जैन संघों को जैनाभासी घोषित कर दिया, क्योंकि इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में गोपुच्छिक, श्वेतवसना, द्राविड, यापनीय और निर्पिच्छिक - इन पाँच संघों को जैनाभास कहा है।¹⁸ इनके अतिरिक्त 'बलि' नामक अन्वय के एक उपभेद का भी उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ है 'परिवार'।

इस तरह हम देखते हैं कि संघ के अन्तर्गत उपर्युक्त इकाइयां कार्य कर रही थीं। इनमें पहले परस्पर भेद या अन्तर का ही पता नहीं चलता था, किन्तु बाद में क्रमशः इनमें दूरियाँ बढ़ती गईं।

पदमचरित्र¹⁹ के रचयिता रविषेणाचार्य (वि.सं. 834) ने अपने ग्रन्थ में गुरुपरम्परा दी है, किन्तु अपने किसी संघ या गण का उल्लेख नहीं किया। इससे भी यह ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा में तब तक देव नन्दि, सेन, सिंह, संघों की उत्पत्ति नहीं हुई थी, कम से कम ये भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। शक सं. 1355 के मंगराज कवि के शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि भट्ट अकलंकदेव के स्वर्गवास के बाद यह संघ-भेद हुआ।²⁰

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  15

दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, अन्वय आदि की परम्पराएँ—

भगवान् महावीर का संघ, जो उनके बाद निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के रूप में प्रसिद्ध था, वही भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय उत्तर भारत में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण भारत गया था और यह निर्ग्रन्थ संघ ही बाद में 'मूलसंघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और दूसरा श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ के नाम से विख्यात हुआ।²¹ श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र स्थविरावली में इस परम्परा के विविध भेदरूप गण तथा शाखाओं के नाम उल्लिखित हैं।

विविध भेदरूप गण, कुल, शाखाएँ आदि चाहे दिगम्बर परम्परा की हों अथवा श्वेताम्बर परम्परा की, इन सब अन्तर्भेदों का कारण आचार-विचार भेद रहा है। यहाँ दिगम्बर परम्परा के संघ, गण, गच्छों आदि की परम्पराओं का विवेचन प्रस्तुत है —

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार ग्रन्थ में लिखा है²² कि वीर नि. सं. 565 वर्ष बाद पुण्डवर्धनपुरवासी आचार्य अर्हद्बली प्रत्येक पांच वर्षों के बाद में सौ यौजन की सीमा में बसने वाले मुनियों को युग प्रतिक्रमण के लिए बुलाते थे। एक समय उन्होंने ऐसे प्रतिक्रमण के अवसर पर समागत मुनियों से पूछा कि क्या सभी आ गये? तो मुनियों ने उत्तर दिया—हाँ, हम अपने संघ के साथ आ गये हैं। इस उत्तर को सुनकर उन्हें लगा कि जैनधर्म अब गण-पक्षपात के साथ ही रह सकेगा। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से विभिन्न संघ स्थापित किये ताकि परस्पर में धर्म वात्सल्य भाव वृद्धिगत हो सके।

आचार्य अर्हद्बलि ने समागत निर्ग्रन्थ संघ में से जो मुनियों का समूह गुफा से आया था उन्हें 'नन्दि' नाम दिया। जो अशोक वाटिका से आये थे उनमें से किन्हीं को 'वीर', किन्हीं को 'अपराजिता' और कुछ को 'देव' नाम दिया। जो पंचस्तूप निवास से आये थे उनमें से कुछ को 'भद्र' नाम दिया। जो शाल्मलिवृक्ष मूल से आये थे, उनमें से किन्हीं को 'गुणधर', तो कुछ को 'गुप्त' नाम दिया। जो खण्डकेशर वृक्ष के मूल से आये थे, उनमें से कुछ को 'सिंह' तथा किन्हीं को 'चन्द्र' नाम दिया।²³

संघ के पाँच भेद

उपर्युक्त सभी संघ 'मूलसंघ' के अन्तर्गत ही हैं। डॉ. चौधरीजी ने लिखा है कि 'मूलसंघ' के पुनर्गठन काल में 9-10वीं शताब्दी के लगभग सभी गणों को मूलसंघ के एक छत्र के नीचे एकत्रित किया गया तथा मूलसंघ को चार शाखाओं में विभाजित किया गया—सेन, नन्दि, देव और सिंह। इस संघ में स्थान आदि के नाम पर विशेषकर दक्षिण भारत के स्थानों के नाम से स्थापित विभिन्न संघ, गण, गच्छ आदि के अग्र लिखित उल्लेख मिलते हैं²⁴—

1. संघ—इसके अन्तर्गत मुख्य रूप में मूलसंघ, नन्दिसंघ, नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, किट्टूरसंघ, कोल्लतूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि।
2. गण-बलात्कारगण (प्रारम्भिक नाम बलिहारी या बलगारगण), सूरस्थगण, कोलाग्रगण, उदार, योगरिय, पुन्नागवृक्ष, मूलगण, पकुर आदि।
3. गच्छ चित्रकूट, होत्तगे, तिगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिंत्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।
4. अन्वय—कौण्डकुदान्वय, श्रीपुरान्वय, किचूरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।²⁵

सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में प्रमुख चार संघ हैं—मूलसंघ, द्रविडसंघ, काष्ठासंघ और यापनीयसंघ। इनमें प्राचीन मूल, द्राविड व यापनीय तीनों संघों में कतिपय गणों व गच्छों के समान नाम मिलते हैं। 'मूलसंघ में द्रविडान्वय तथा द्रविडसंघ में कोण्डकुन्दान्वय का उल्लेख मिलता है। मूलसंघ के सेन व सूरस्थगण द्राविडसंघ में भी प्राप्त होते हैं। नन्दिसंघ तीनों में ही है। मूलसंघ के बलात्कारगण, क्राणूरगण यापनीयसंघ में भी हैं। इनमें इन संघों की शाखाओं के संक्रमण का भी पता चलता है।²⁶

नन्दिसंघ—डॉ. चौधरी के अनुसार²⁷ ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नन्दिसंघ या गण बहुत प्राचीन है। इस संघ की एक प्राकृतपट्टावली मिली है। नन्दिसंघ यापनीय और द्राविडसंघ में भी पाया जाता है। सम्भव है कि प्रारम्भ में नन्दान्त नामधारी (यथा-देवनन्दि, विद्यानन्दि आदि) मुनियों के नाम पर इसका संगठन किया गया हो अथवा नन्दिसंघ की परम्परा में दीक्षित होने के कारण इनके नाम के साथ 'नन्दि' जुड़ गया हो। मूलसंघ के साथ इसका उल्लेख यापनीय एवं द्रविड संघ के बाद 12वीं शताब्दी के लेखों में पाते हैं, पर 14-15वीं शताब्दी में नन्दिसंघ एवं मूलसंघ एक-दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। इस संघ की उत्पत्ति प्रारम्भ में गुफावासी मुनियों से कही गई है, जिससे प्रतीत होता है कि इस संघ के मुनिगण कठोर तपस्या प्रधान निर्लिप्त वनवासी थे, पीछे युगधर्म के अनुसार वे बहुत बदल गये।

देवसंघ—देवसंघ का संगठन देवान्त नामधारी (नाम के सात देव नामक संघ परम्परा के होने वाले) मुनियों पर से हुआ था, पीछे इसका प्रतिनिधि देशीगण उपलब्ध होता है।

सेनसंघ—सेनसंघ का नाम भी सेनान्त अपने नाम के साथ 'सेन' लिखने वाले, जैसे जिनसेन आदि मुनियों से हुआ है और इसके प्रतिष्ठापक 'आदिपुराण' के कर्ता जिनसेन तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000

भट्टारक माने जाते हैं। पर इन्होंने अपने गुरु वीरसेन को पंचस्तूपान्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पांचवीं शताब्दी के पहाड़पुर (बंगाल) के लेखों में मिलता है। मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन हरिवंश कथाकोष में आया है। लगता है यह बहुत प्राचीन मुनिसंघ था। सेन गण का पीछे बहुत नाम हुआ, प्रायः सभी भट्टारक सेन गण के ही हुए हैं। इनके मठ कोल्हापुर, मद्रास, पोगोंड (आंध्र) और कारंगजा में हैं सेनान्वय बड़ा प्रभावशाली रहा है।

द्राविडसंघ—द्राविडदेश के साधु समुदाय का नाम द्राविडसंघ है। दर्शनसारग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. 526 में दक्षिण के मदुरा में द्राविडसंघ की स्थापना की।²⁸ शिलालेखों में द्राविडसंघ का पहले कुन्दकुन्दान्वय तथा मूलसंघ के साथ फिर नन्दिसंघ के साथ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। बाद में यह यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में, इस सम्प्रदाय में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे सम्बन्ध रखा और द्राविडगण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। बाद में यह द्राविडगण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघ का रूप दे दिया गया और नन्दिसंघ को नन्दिगण के रूप में निर्दिष्ट किया गया।²⁹

काष्ठासंघ—यह अन्यसंघों की अपेक्षा अर्वाचीन है। इसकी स्थापना आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा वि.सं. 753 में हुई, जो नन्दितट में रहते थे। पं. नाथूराम प्रेमी ने इस तिथि को निश्चित नहीं माना। वि.सं. 1734 के पं. बुलाकीचन्द्र के अनुसार काष्ठासंघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई और काठ की प्रतिमा की पूजा का विधान करने से उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा।³⁰ इस संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख सं. 1088 के दूवकुण्ड से प्राप्त लेख में है।

बलात्कारगण—नाम साम्य को देखते हुये यापनीयों के बलहारि या बलगार गण से यह निकला है। क्योंकि दक्षिणपथ के नन्दिसंघ में 'बलिहारी या बलगार' गण के नाम पाये जाते हैं, किन्तु उत्तरपथ के नन्दिसंघ में सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते हैं। 'बलगार' शब्द दक्षिण भारत के एक ग्राम विशेष का द्योतक है। बलगार गण का पहला उल्लेख सन् 1071 का है। मूलसंघ नन्दिसंघ का बलगार गण ऐसा नाम दिया है।³¹

दूसरा मत यह है कि 'बलात्कार' शब्द स्थानवाची नहीं है, अपितु बलात् (जबरदस्ती) धार्मिक यौगिक क्रियाओं में अनुरक्त होने या लगे रहने आदि के कारण इसका नाम 'बलात्कार' हुआ जान पड़ता है।³² इसके लिए एक मूर्ति-लेख का उदाहरण (शक सं. 1277 का) इस प्रकार है—'कुन्दकुन्दान्वय, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण, मूलसंघ के अमरकीर्ति आचार्य के शिष्य, माघनन्दि व्रती के शिष्य भोगराज द्वारा शान्तिनाथ की मूर्ति की स्थापना की गई।'।

यापनीय संघ—एक समय ऐसा आया कि तत्त्वज्ञान एक होने पर भी आचारगत भिन्नता के कारण दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा की दूरी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। अतः इन दोनों में सामंजस्य लाने का श्रेय 'यापनीयसंघ' को है। इसके प्रादुर्भाव के पीछे काफी मतभेद है किन्तु यह काफी प्राचीन है। कदम्ब नरेश मृगेशवर्मा के एक ताम्रपत्र (सन् 470 ई.) में इस मतभेद का एक उल्लेख श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्गन्थ महाश्रमणसंघ के रूप में भी किया गया है। इसी नरेश के एक-दूसरे लेख में यापनीय और कूर्चक संघ के साथ निर्गन्थ संघ का उल्लेख है। वस्तुतः यापनीयसंघ दिगम्बर परम्परा के काफी नजदीक है। एक समय यापनीयसंघ बड़ा ही राज्यमान्य था। इसका प्रधान केन्द्र कर्नाटक देश का उत्तरीय-प्रदेश रहा है। इसमें अनेकों श्रेष्ठ प्रतिभाशाली विद्वान् आचार्य हुये हैं। इस सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य हैं और कुछ संशोधन के साथ पढ़े जाते हैं। शिवार्यकृत भगवतीआराधना और इसकी विजयोदयाटीका के कर्ता आचार्य अपराजित सूरी तथा शाकटायन आदि अनेक आचार्य यापनीय परम्परा से सम्बद्ध श्रेष्ठ माने जाते हैं।


संघभेद—इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में भद्रबाहु एवं लोहाचार्य तक की गुरु परम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त—इन चार आचार्यों का उल्लेख किया गया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् 62 वर्ष में तीन अनुबद्ध केवलज्ञानी हुए। उसके पश्चात् 100 वर्ष तक पाँच श्रुतकेवली हुए, उसके बाद 181 वर्ष तक दस पूर्वधारी रहे। फिर 123 वर्ष तक ग्यारह अंगधारी रहे। उसके बाद 99 वर्ष तक दस, नव एवं आठ अंगधारी रहे। इन्हें शेष अंगों व पूर्व के एकदेश का भी ज्ञान था। ये आचार्य और इनका समय इस प्रकार है—

अहिबल्लि माघनन्दि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।

अडबीसं इगबीसं उगणीसं तीस बीस बास पुणो।

—नन्दि आम्नाय की पट्टावली 16

अर्थात् 62 +100+181+123+99=565 वर्ष पश्चात् एक अंगधारी अर्हदबलि आचार्य हुये, जिनका काल 28 वर्ष था। इनके बाद एक अंगधारी माघनन्दि आचार्य हुये, इनका काल 21 वर्ष रहा। इसके पश्चात् आचार्य धरसेन हुये जिनका काल 19 वर्ष रहा। इनके बाद पुष्पदन्त और भूतबलि जिनका काल क्रमशः 30 वर्ष एवं 20 वर्ष रहा। अर्हदबलि अपने समय के विशाल संघ के नायक थे, इनका दूसरा नाम गुप्तिगुप्त था। इन्हें पूर्वदेश के पुण्डनवर्धनपुर का निवासी माना जाता है। इन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल यति सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में सौ योजन तक के यति सम्मिलित हुए। उन्हें

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  19

इन यतियों की भावनाओं से ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का समय आ गया है। अतएव उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि जिनका उल्लेख पहले किया गया है, इन नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये ताकि गणतन्त्रात्मक स्वरूप सुरक्षित रहे और अलग-अलग इकाइयों में रहकर भी सभी आचार-विचार और मर्यादाओं में समान रूप से संरक्षित होकर आत्मकल्याण में निर्विघ्न संलग्न रह सकें तथा एक स्थान की अपेक्षा देश के सभी क्षेत्रों में जा-जाकर नैतिकता आदि का प्रसार अधिकता से कर सकें।

इस प्रकार संघों के इस निवेदन से स्पष्ट है कि अनुशासन, आचार-विचार और संयम की निरन्तर प्रगति हेतु सभी संघ कुछ इकाइयों में अलग-अलग बँटकर भी विभिन्न क्षेत्रों में अनेक बाधाओं और कठिनाइयों के बावजूद जैनधर्म-दर्शन और उसकी संस्कृति तथा साहित्य की मूल परम्पराओं को सुरक्षित रखकर सम्पूर्ण भारत में अहिंसा, अनेकान्तवाद और सर्वोदय की अलख जगाए हुए थे। परन्तु तीर्थंकर महावीर ने श्रमणसंघ को जो गणतन्त्रात्मक स्वरूप दिया था उसकी रक्षा करते हुए आत्मकल्याण के मार्ग पर सुदृढ़ रहने की सभी को समान रूप से चिन्ता ही नहीं रही, फलतः किञ्चित् शिथिलाचार भी आया। किन्तु उसका खुलकर विरोध भी किया गया और यही कारण है कि आज भी सम्पूर्ण भारत में जैन श्रमण संघों के प्रति समान रूप से सभी की परम आस्था है। इस आस्था की रक्षा हेतु सभी संघ सचेष्ट भी रहते हैं। यही तो है श्रमण संघ की इस अविच्छिन्न और शाश्वत धारा में सदा वर्तमान बने रहने का राज और अपने देश की वर्तमान गणतन्त्रात्मक पद्धति की सफलता का राज भी श्रमण संघ का यही आदर्श है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. रत्नत्रयोपेतः श्रमणगतः संघः-सर्वार्थसिद्धि, 6/13, पृ. 331
2. श्रमयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः— भगवतीआराधना, विजयोदयाटीका, 510, पृ. 730
3. मूलाचार, 5/66
4. नन्दिसूत्र स्थविरावली, 7-8
5. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442, त. 2, श्लोक वा., 9/24, भावपाहुड-टीका, 78
6. आचारांगशीलांकवृत्ति, 2,1,10,279 पृ. 322
7. आ.भिक्षु स्मृति ग्रन्थ-द्वितीय खण्ड, पृ. 291
8. वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।

विवाहे राग उत्पत्ति गणो दोसाणमागरो। मूलाचार, 10.92

9. आचार्यभिक्षु, स्मृतिग्रन्थ, पृ. 292
10. गच्छ ऋषिकुलं-मूलाचार वृत्ति 4/185
11. सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा गच्छः वही, 4/174
12. सर्वार्थसिद्धि, 9/24, पृ. 442
13. स्थानांग टीका (अभयदेवसूरी), पृ. 516
14. मूलाचार, 4/166
15. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 291
16. प्रवचनसार ता. वृत्ति, 203, पृ. 276
17. यापनीय और उनका साहित्य, पृ. 42
18. गोपुच्छिका श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकाः।
निपिच्छकाश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥ इन्द्रनन्दिश्रुतावतार, 10
19. पद्मचरितम् भाग-1, श्री नाथूराम प्रेमी का प्राक्कथन, सन् 1928
20. तस्मिन्गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवःपति नर्तुमिवप्रकृष्टां।
तदन्वयोद्भूत मुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि संघभेदाः ॥ 19 जैन सिद्धान्त भाष्कर अंक 2-3 में प्रकाशित शिलालेख।
21. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 2, पृ. 55
22. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्लोक, 91-95
23. आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इतियतयो सेन-
भद्रादयौ च।
पंचस्तप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्।
निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥
—इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार श्लोक 96
24. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 295
25. वही,
26. यापनीय और उनका साहित्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, पृ. 41
27. आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, पृ. 294
28. दर्शनसार, 24-28
29. जैनशिलालेख संग्रह, भाग-2, पृ. 213-214
30. पं. बुलाकीचन्दकृत वचन कोश
31. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-३, प्रस्तावना, पृ. 62
32. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-2, पृ. 57

सन्त परम्परा की उपयोगिता सामाजिक सन्दर्भ में

डॉ. प्रभाकर माचवे

आज भारत में भविष्य की आशंकाओं और असुरक्षिता के भय से घिरे सामान्य नागरिक को सहसा बाबा, स्वामी, महर्षि, तांत्रिक, पराशक्तिज्ञाता, स्वयंभू, भगवान और चमत्कारी सन्तों की शरण में जाने का रोग सा फैला है। बड़े बड़े राजनेताओं से लगाकर अन्धविश्वास और सहजश्रद्धा में हजारों वर्षों से आकंठ डूबे भोले-भाले गरीब लोगों तक यह रोग फैला है। ऐसे समय में ऐसा प्रश्न पूछा जाना स्वाभाविक है कि सामाजिक संदर्भ में सन्त-परम्परा की क्या उपयोगिता है? समाज में तो सब ओर अधर्म दिखाई दे रहा है और ऐसे ही लोग जो कर्म से तो सब प्रकार के भोगों में लिप्त हैं, वाणी से जब उससे उलटे त्याग का उपदेश औरों को देते हैं, तो उन पर से विश्वास उठ जाना स्वाभाविक है।

अब इस बात को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें। भारत में वैदिक, बौद्ध-भिक्षु और जैन श्रमण काल से ही सर्वसंग परित्यागी, निःश्रेयस् सेवी, निवृत्तिपरक व्यक्ति को समाज में ऊंचा स्थान दिया गया है। ऋषि और मुनि, तपस्वी और सिद्ध धर्मों की पुराण-कथाओं में आदरित हैं, क्योंकि इन्द्रियशक्ति की एक सीमा है, अर्थ और काम मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता, यह बात हमारे पूर्वजों ने पहचानी थी। ऐहिक जीवन केवल एक सोपान है दैवी जीवन का। शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर निरन्तर विकास और पुरस्सरण ही श्रेष्ठ माना गया।

आचारांग सूत्र में आता है—‘साधना के महामार्ग पर वीर पुरुष ही चल सकते हैं और जैन पंचतंत्र में लिखा है कि ‘साधु वह है जो अपकारी के प्रति भी उपकार करे।’ वीरता अपने से कमजोर पर हाथ उठाने में नहीं, परन्तु पापी को भी क्षमा करने में है। भारतीय राजनैतिक सन्दर्भ में देखिये। हमारे पड़ोसी बाँगलादेश ने पाकिस्तानी फौजी ताकत के खिलाफ मुक्ति संग्राम छेड़ा। भारत ने क्या किया? उस सामरिक कार्यवाही में 9171 में तथा पहले भी हैदराबाद या गोआ के मुक्ति संग्राम में जैसी और जितनी सैनिक कारवाई आवश्यक थी, की। करीब एक लाख पाकिस्तानी युद्ध बंदियों को भारत में शरण दी, उन्हें सुरक्षित उनके जन्म-स्थानों को लौटा दिया। यह सच्चे वीर की अहिंसा है।


भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में जहां एक और इक्के-दुक्के आतंकवादी ब्रिटिशों पर या गोरों पर बम फैंकते रहे, अण्डमान में काले पानी की या फाँसी की सजा पाते रहे, उन सबकी बहादुर और शहादत व्यर्थ नहीं गई। पर बड़े पैमाने पर सर्वसाधारण जनता को अहिंसक अवज्ञा और असहयोगिता के लिए प्रेरित करने वाले गाँधी ने और बड़ा मार्ग अपनाया। प्रेमनु मारग शुरू नुं छे’ गुजराती सन्त-कवि ने गाया। गांधी ने उसे अपनी प्रार्थना का अंग बनाया। बार-बार गांधी ने कहा—‘हमारी लड़ाई अंग्रेज व्यक्ति से नहीं, अंग्रेजी जालिम हुकूमत से हैं।’

बकौल इमर्सन ‘सन्त सौ युगों का शिक्षक होता है।’ अब पंजाब को देखिये-सिख धर्म में सन्त सिपाही का आदर्श बखाना गया ‘साधो मन का मान त्यागो’

इसी सन्दर्भ में गुरु नानक कहते हैं—केवल कह देने से न पुण्यात्मा बन जाते हैं, न पापी, किन्तु वे तुम्हारे कर्म हैं जिन्हें तुम अपने साथ लिखते जाते हो और तुम्हारे कर्म तुम्हारे साथ-साथ जाते हैं—तुम जैसा बोते हो वैसा खाते हो।

गुरु नानक ने भी लिखा कि—‘असंख्य लोग मूर्ख और घोर अन्धे हैं, असंख्य पराया धन हरण करने वाले और चोर हैं। असंख्य लोग बलात्कारपूर्वक राज्य स्थापित कर लेते हैं, गला काटने वाले हत्यारे भी असंख्य हैं। असंख्य पापी हैं जिन्हें पाप करते हुए गर्व होता है। असंख्य बोलने वाले, असंख्य ही पड़े पड़े चक्कर काटते हैं। असंख्य गंदे लोग गंदी कमाई से पेट भरते हैं। असंख्य निन्दक पराई निन्दा करते और सिर पर पापों की गठरी लादते हैं। नानक कहते हैं, मैं तो तुझपर एक बार भी न्यौछावर होने लायक नहीं। अच्छा-भला वही है, जो तुझे भावे। हे निराकार! तू सदा सलामत रहता है।

दादूदयाल ने ‘साध कौ अंग’ में संत की परिभाषा इन दोहों में दी—

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  23

“दादू इस संसार में, ये द्वै रतन अमोल। इन सांई अरू संतजन, इनका मोल न तोल ॥
 दादू चन्दन कदि कह्या अपना प्रेम-प्रकाश। दह दिसि परगट व्है रह्या सीतल गन्ध सुवास ॥
 दादू पारस कदि कह्या मुझ थी कंचन होइ। पारस परगट व्है रह्या साच कहै सब कोई ॥
 जे जन हरि के रंगि रंगे, सो रंग कदे न जाई। सदा सुरंगे संत जन, रंग में रहे समाई ॥”

सन्त परम्परा इस प्रकार से चुपचाप अपना काम करती जाती है। निर्मला देश पांडे, विनोवा की शिष्या ने जलियावाला बाग तक दिल्ली से पद यात्रा की। जनमत बनाया। अन्त में सैनिक कार्यवाही की गयी।

दरिया साहब ने पूछा—‘है को सत राग अनुरागी। जाकी सुरत साह बसे लागी।’
 राजस्थान की दयाबाई ने कहा—‘साध साध सब कोउ कहै, दुरलभ साधु सेव’
 संत सहजो बाई ने कहा—

‘साध संगत में चाँदना सकल अँधेर और। सहजो दुर्लभ पाइये, सतसंगत में ठौर ॥
 जो आवे सतसंग में, जाति बरन कुल खोय। सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सु गंगा होय ॥’

जैसे पंजाब में वैसे महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा कि ‘साधक भूत-दया के कारण कर्मयोग में प्रवृत्त होता है। स्वामी रामदास ने कहा कि ‘साधना स्वेच्छा से स्वीकृत आत्मानुशासन है। उन्होंने दास बोध में सन्तों के पूरे लक्षण दिये हैं। कुछ ये हैं—

सन्त और भागवत में भेद नहीं।

सन्त एक भी क्षण व्यर्थ नहीं खोता। हमेशा कुछ-न-कुछ काम करता रहता है।

सन्त वह है जिसमें कोई इच्छा न हो, जिसमें क्रोध न हो, जिसकी इच्छाएं आत्मा में केन्द्रीभूत हो गयी हों और जिसका खजाना ‘नाम’ हो।

सन्त कपड़ों से भिखारी-सा लगता है। उसकी शक्ति उसके मौन कामों में है।

सन्त कम कहता और कम कहकर भी सबके दिलों को खींच लेता है।

सन्त सबके हृदयों को जानता है और उन्हें प्रकाशमय बनाने के विविध तरीके भी जानता है।

सन्त अपने रहस्य अनुभव के बल पर सब दार्शनिक विचार धाराओं को हमवार कर देता है और लोगों को मजबूर कर देता है कि वे लकीर के फकीर न रहे।

सन्त तुकाराम ने साधु की व्याख्या की कि जो उत्पीड़ित, शोषित, दलित, वंचित, मुंचित है उन्हें जो-अपनाते हैं वही साधु हैं। वही देवता वास करते हैं।

एक और मराठी कवि अमृत ने लिखा —

‘संत-सभा में आत्म-सुवाचा सुन्दर उगवे मोड़।’

अर्थ—‘संत समागम में आत्मसुख का बीज छिपा है। वहीं अंकुरित होता है।

छान्दोग्योपनिषद् में आता है—

“बलं वाव विज्ञानाद् भूयः—अर्थात् विज्ञान से बलश्रेष्ठ है। अपि ह शतं विज्ञानवताम् एको बलवान् आकम्पयते। स यदा बली भवति अथोत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति।” (7.8.1.31)

अर्थ—विज्ञान से (आत्म) बल श्रेष्ठ है, क्योंकि एक बलवान मनुष्य सौ विद्वानों को डराता है। बलवान होने पर ही मनुष्य उठकर खड़ा होता है। उठने पर ही वह सेवा कर सकता है। सेवा करने से वह उसके पास बैठने लायक बनता है। पास बैठने से द्रष्टा बनता है, सुनने वाला बनता है, मनन करने वाला बनता है, बुद्ध बनता है, कर्तृत्वज्ञानी बनता है, विज्ञानी बनता है।


वहाँ उपनिषत्कार का अर्थ ‘आत्म बल’ से था। अब यहाँ स्थिति यह कि शारीरिक बल ही प्रधान हो गया है। शास्त्र-बल की अपेक्षा शस्त्र-बल पर जोर बढ़ गया है। पर जैसे अर्थ से सब समस्याएँ नहीं सुलझ सकती, केवल शस्त्र बल से मानव समस्याओं का समाधान नहीं है। समाज में नियंत्रण लाने के लिए तानाशाही कुछ समय तक, कुछ लोगों तक सफल होती है पर इतिहास साक्षी है कि तानाशाहों के नाम भुला दिये जाते हैं। देश, समाज सुधारकों और त्यागियों, प्रेम-प्रचारकों से ही अधिक सुसंस्कृत बनता है। गजनी या चंगेज, नादिरशाह या तैमूर, हिटलर या मुसोलिनी, स्तालिन या पाओ और आज के जीवित तानाशाहों में ईदी अमीन या अय्यातोला खोमेनी, जिया या हरशद आदि हिंसा करके भी विरोध को मिटा नहीं सके हैं। उलटे सन्त अजातशत्रु होते हैं। वे वैर को भी अवैर से जीतते हैं।

इसलिए मानकर चलना चाहिए कि कोई भी समाज, जो बनता है वह व्यक्तियों से बनता है। हर व्यक्ति में तामसी, राजसी, सात्विकी तीन गुण होते हैं। बंदर से पूँछ घिसकर या पिटकर विकसित होकर मानव बना तो वह पूरी तरह, रीढ़ की हड्डी खड़ा करके, दो हाथ खुले छोड़कर दो पैरों पर चलने लगा। वह चौपाई से द्विपाद बना। यहाँ पेट और कमर के नीचे का मानव क्षुधा-काम से पीड़ित मानव पशु रहा। नाभि से ऊपर का मानव हृदय और मस्तिष्क वाला मानव, विवेकी और भावनाशील मानव, सात्विक वृत्तियों की अनन्त सम्भावना वाला मानव है। वह विकार पर विचार की विजय पा सकने वाला, दैवी अंश वाला मनुष्य है। सन्त उसकी भलाई के लिए रास्ता दिखाते हैं। महाभारत में वन पर्व में प्रश्न आता है—

‘कुतो दिक्—दिशा किधर है?’

उत्तर दिया गया है—सत्तो दिक्—सन्त ही दिशा है।

हम उन सन्तों की बताई सच्ची दिशा की ओर से मुंह मोड़ते हैं और उल्टी दिशा में

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  25

जाते हैं। परिणाम यह है कि समाज पर उनका कुछ परिणाम नहीं हो पा रहा है। एक बार पं. सद्गुरुशरण अकशी (कानपुर) ने यही प्रश्न वर्षों पहले उठाया था—‘सन्तों ने हमारे लिए क्या किया?’

शेख शादी ने लिखा—‘ऐ अरब, तू काबा कभी नहीं पहुंचेगा, क्योंकि तूने जो रास्ता पकड़ा है वह तुर्किस्तान जाता है।’ कहावत है—बोये पेड़ बबूल के, बेर कहां से होय।

अब सन्तों के जीवन चरित्र में कभी-कभी कई अव्यावहारिक बातें मिलती हैं। वे जीवन में व्यापार-व्यवसाय नहीं कर सके। न संत तुकाराम दुकान चला सके, न गुरु नानक अनाज तौल सके। न मीराबाई राजकन्या या राज वधु का जीवन बिता सकी, न रसखान दरबारी टीमराय निभा सके। न रामकृष्ण परमहंस अपने पिता के व्यवसाय से जुड़े रहे, न मोहनदास गाँधी बैरिस्टरी कर सके। इसलिए लौकिक दृष्टि से सन्त और भक्तों को साधारण लोग असफल या अवास्तववादी कहते हैं। वे स्वप्न द्रष्टा होते हैं, इसलिए समाज को उनकी बानी ‘उल्ट बंतिया’ या सन्धा थाबा या प्रहेलिका जैसी लगती है। दवाएँ सभी मीठी नहीं होती। कुछ कड़वी भी होती हैं। कुछ आरम्भ में दुःख देने वाली। परन्तु अंत में वे सुख देती हैं। समाज को इसी दृष्टि से सन्तों की ओर देखना चाहिए।

कोल्टन ने कहा कि महान् पुरुष अपने लक्ष्यों की प्राप्ति ऐसे साधनों से करते हैं जो दुर्बुद्धियों की पकड़ के बाहर होते हैं और जो आम लोगों के तरीकों से उलटें भी हो सकते हैं। लेकिन उसके लिए मन का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए जैसा उस दार्शनिक को भौतिक पदार्थ का था जिसने गरमी की मदद से बर्फ बना दिया।’

वस्तुतः जिसे हम वस्तु जगत् कहते हैं, वह सन्तों की दृष्टि में ‘वास्तव’ नहीं है। जिसे हम अमूर्त कहते हैं उसे ही वह आधार मानते हैं। अमितगति ने सन्त की परिभाषा के ये गुण गिनाये—

- (1) चित्त को प्रसन्न करने वाला
- (2) व्यसन-विमुख
- (3) शोक-ताप को शान्त करने वाला
- (4) पूज्य भाव बढ़ाने वाला
- (5) सत्य, हितकर, नम्र, सार्थक, वारयुक्त, निर्दोष, वचन बोलने वाला
- (6) श्रवण सुखद
- (7) न्यायानुकूल
- (8) बुधजन द्वारा सम्मानित

सन्त काव्य का साक्ष्य भारत की सभी भाषाओं में उत्तर, दक्षिण, पूर्व पश्चिम सर्वत्र पाया गया है। वे मनुष्य और ईश्वर को एकाकार जानते हैं। मनुष्य की सेवा ही सर्वोच्च ईश्वर-सेवा है, ऐसा वे मानते हैं।

यह आरोप है कि सन्त पलायनवादी होते हैं। वे जनस्थान छोड़कर वन-पर्वत एकान्त में भाग जाते हैं। यह सही नहीं है। वे बार-बार याद दिलाते हैं—‘काहेरे बन झोन जाई?’

‘साधो सहज समाध भली’ गाने वाले और ‘पार उतर गये सन्त जनारे’ यह टेर देने वाले सन्त कबीर से कहा कि ‘हरि भक्त सन्त सज्जन पैदा न हुए होते तो जल मरता संसार। तुलसीदास ने लिखा कि जब किसी ने सन्त को पहचान लेने का दावा किया तो मैंने कानों पर हाथ रख लिये। तुलसीदास ने अपने एक पद में प्रभु चरणों की महिमा गाई है—

‘सोई चरन संतन जन सेवत सदा रहत सुखदाई।

सोई चरन गौतम ऋषि नारी पंरसि परम-गति पाई।’

मीरा ने भी बार-बार कहा है—‘तज कुसंग सत-संग बैठ नित, हरि-चरचा सुन लीजै।’ नितानन्द ने ‘या निशा सर्व भूतानि तस्यां जागर्ति संयमी’ की ही बात अपनी भाषामें लिखी—

क्यों सोया गफ़लत का मारा, जाग रे नर जाग रे।

या जाके कोई जोगी भोगी, या जागे कोई चोर रे।

या जागे कोई संत पियारा, लगी राम सों डोर रे ॥

ऐसी जागन जाग पियारे, जैसी ध्रुव प्रहलाद रे।

ध्रुव को दीनी अटल पदवी, प्रहलाद को राज रे।

मन है मुसाफिर तनुका सरा बिच, तू कीता अनुराग रे।


रैनि बसेरा कर ले डेरा, उठ चलना परभात रे ॥

साधु-संगत सतगुरु की सेवा, पावे अचल सुहाग रे।

नितानन्द भज राम, गुमानी। जागत पूरन भाग रे ॥

ब्रह्मानंद ने बताया कि ‘संतन की सोबत, मिलत है प्रगट मुरारी।

संत मनुष्य और मनुष्य से अपर जो भी परम सत्ता है, उनके बीच में सोपान का कार्य करते हैं। गलती वहीं शुरू होती है जब संत को धीरे-धीरे उसके अनुयायी एक संस्था, या पंथ या मठ बना देते हैं। वहां जंगम स्थावर हो जाता है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  27

हर छोटा से छोटा अनुयायी इस अहंकार में लिप्त हो जाता है कि वह भी वैसा ही बड़ा सन्त है, जैसा उसका गुरु है। इसीलिए बार-बार महापुरुषों ने कहा है कि 'मुझे मेरे अनुकरण करने वालों से बचाओ!'

जैसे हमने ऊपर हिन्दी-भाषी, मराठी भाषी सन्तों का साक्ष्य दिया, गुजरात में भी महान सुधारक, महान साधक इस शताब्दी में दयानंद सरस्वती और महात्मा गाँधी यों ही नहीं पैदा हुए। आशु कवि राजेन्द्र जैन गाँधीजी को प्रभावित करने वाले एक अद्भुत साधक थे।

गुजराती भक्त कवियों पर वैष्णव साधना का विशेष प्रभाव था। जैन कवियों के 'रास' और 'फागू', वैष्णव कवियों की 'गरबी' और 'मामेरुं' अपने ढंग की रचनाएँ हैं। प्रीतम नायक अन्य गुजराती मध्ययुगीन कवि का मानना है कि

'संत कृपा थी छूटे माया, काया निर्मल थाय।

जोने/श्वासोश्वासे स्मरण करता, पांचे पातक जाय जोने ॥''

बंगाल की सन्त-साधना में शैव, शाक्त, तांत्रिक, वैष्णव, बौद्ध, 'मुस्लिम, सूफी और अन्त में रोमन कैथोलिक (दौम तौपस) अनेक विचार धाराओं का पचमेल, अद्भुत समन्वय और संश्लेषण मिलता है। यह चयागीति और 'दोहा कोश' के सिद्धनाथों से धारा आरम्भ होकर विद्यापति की राधा-कृष्ण रहःकेलि का वर्णन करती हुई, बडु चंडीदास तक आ पहुँचती है। इसमें चैतन्य का प्रभाव है। रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी की 'अचिंत्य-भेदाभेद लीला' है। सबसे मजे की बात यह है कि मुस्लिम बाडल (व्याकुल या बावले या बेहाल) भी उसी रंग में मर्नर मानूस और 'अचिन पारवी' की विरह-वेदना से रंगे हैं। इनमें सहजिया बौद्ध पंथ भी मिले हुए हैं और मिले हैं प्रेमाख्यात्मक कवि कुतुबन और मंझन के लोक-काव्य 'लोरिक-चन्दा' की रूप कथाएं। यहां सन्त-परम्परा और समाज की कला-प्रियता का विचित्र संगम पाया जाता है। अतुलप्रसादी और रामप्रसादी गान मातृ-प्रेम से रंजित हैं।

इसी परम्परा में दरिद्रनारायण की सेवा करने वाले श्री रामकृष्ण परमहंस आये। 'नारायण मिले अन्त में, हंस के निराला ने कविता लिखी। निराला ने 'रामकृष्णवचनमृत' के कई खंडों का हिन्दी में अनुवाद किया। रामकृष्ण के ही परम शिष्यों में श्री नरेन्द्रनाथ दत्त आये। उन्होंने विश्वभर में भारतीय दर्शन और योग की समाजपरकता की ध्वजा उतेजित की। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जग में सारी मानव जाति के लिए प्रेम-भाव व परम सहिष्णुता पैदा होना ही साधुता की सच्ची कसौटी है

इस सन्त परम्परा का जादू ऐसा सिर पर चढ़कर बोला कि एक ईसाई मतावलम्बी माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'विरहिणी ब्रजांगना' काव्य लिखा। उसी का अनुवाद 'मधुप' उपनाम से श्री मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी में किया। अक्सर प्रश्न पूछा जाता है कि रवीन्द्रनाथ वैष्णव थे (जैसे 'भानुसिंह र पदावली' से स्पष्ट है) या ब्रह्मसमाज के संस्थापक? उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर होने से वे वेदान्ती थे या ईसाई प्रभाव के कारण 'रहस्यवादी'। रामचन्द्र ने लिखा है कि रविन्द्रनाथ ने गीतांजली में लिखा है—

कर्म जखन प्रबल आकार, गरजि उठिया ढाके चारि धार,

हृदय-प्रान्ते, हे जीवननाथ, शान्त चरणे एशो । १ ।

आपनारे जब करिया कृपण कोणे पड़े थाके दीन हीन मन

दुवार खुलिया, हे उदार नाथ ।

राज-समारोहे एशो ॥ २ ॥

(कर्म जब प्रबल आकार लेकर गर्जन करते हैं और चारों ओर से ढांक देता है तब मेरे हृदय प्रान्त में हे जीवन नाथ! शान्त चरणों से आओ!

जब अपने आपको कृपण बनाकर दीन हीन मन एक कोने में पड़ा रहता है तब द्वार खोलकर हे उदार नाथ! राज-समारोह से आओ)

रविन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं में केवल भक्ति का स्वर नहीं है। वह समाज के विविध पक्षों पर भी पद्य में और गद्य में लिखते हैं। उसी गीतांजलि में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि वैराग्य साधना में मेरी भक्ति नहीं है या भजन पूजन, साधन-आराधन सब छोड़ दो। देवालय के अंधेरे रुद्ध कोने में भगवान नहीं हैं। वहां जाओ, जहां किसान खेती कर रहा है, बारह महीने कष्ट में है। जाओ, जहां पत्थर कट रहा है। सामाजिक प्रतिबद्धता का यह हाल था कि उन्होंने विश्व के देशों में संकीर्ण राष्ट्रवाद, अधिनायकवाद और युद्ध-पिपासा पर प्रहार किया। उनका प्रसिद्ध गीत हैं—हिंसाय उन्मत पृथ्वी, सिन्धी भाषा में भजन हैं —

'तेरा मकान आला जित्थे कित्थे वसी भी तूं ॥


...हलो तो बाजार देखूं आगा हली पसूं।

बाजार मिडयो हि आदम, आदम जो दम भी तूं ॥

हलो तो मन्दिर देखूं आगा हली पसूं।

मन्दिर मिडयो हि मूरत, मूरत जो सूरत भी तूं।

'जहां देखता हूं उधर तू ही तू है, वाली सूफी भावना से प्रेरित होकर उर्दू कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। इस पैकरेखाकी में इकबाल ने खुदा से भी बड़ी खुदी को देखा।

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  29

इस प्रकार हर भाषा में, हर प्रदेश में, हर युग में सन्त-साहित्य की परम्परा सदा हमें समाजोन्मुख दिखाई दी। उसी का परिणाम है कि आज के युग में हमारे जीवन में हमने भी विनोबा और सन्त तुकड़ोजी, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी और ठक्कर बाबा, बाबा आमटे और चिपको आन्दोलन के सुन्दरलाल बहुगुणा में उसी का साक्षात्कार देखा जिनकी दिव्यता मदर टेरेसा को, फूजी गुरुजी को, स्वर्गीय मार्टिन लूथर किंग को और अनेक समाजसेवियों को प्रेरित करते रहे हैं। सन्त वे दीप स्तंभ हैं जो युगों युगों तक इस अंधेरे से घिरे तूफानग्रस्त जीवन-समुद्र में हमारी जीवन-नौकाओं को बराबर मार्ग-दर्शन देते रहेंगे।

□□□

वनस्पति : एक विमर्श

साध्वी विमलप्रज्ञा

षड् जीविकाय पर जिस सूक्ष्मता से विचार जैन-दर्शन में किया गया है, अन्यत्र नहीं। जो जीव व्यक्त हैं, चक्षुग्राह्य हैं उनका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। उनके जीवत्व की सिद्धि के लिए किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। किन्तु जो अव्यक्त हैं, हलन-चलन करने की क्रिया से रहित हैं, जिनके जीवत्व की सिद्धि चक्षुग्राह्य नहीं है, उनमें जीवत्व स्वीकार करना जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। जैन-दर्शन पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांचों में जीवत्व स्वीकार करता है। इस संसार में जितने पदार्थ हैं, वे इन जीवों के व्यक्त शरीर हैं। वनस्पति में जीव हैं, यह बात वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला से सिद्ध हो चुकी है। उनमें भी सुख-दुःख का संवेदन होता है। मनुष्य के अच्छे या बुरे विचारों से वे प्रभावित होती हैं। सांध्य टाइम्स पत्र में यही समाचार था कि पौधों की भी भावनायें होती हैं—जापान की एक खिलौना कम्पनी ने एक ऐसा उपकरण बनाया है जिससे पौधों की भावनाओं को जाना जा सकता है। इस कम्पनी ने प्लानटोन नामक उपकरण की बिक्री शुरू कर दी है। इस उपकरण में अनुभूति विषयक दो क्लिप लगे हैं जिसे पौधों की पत्तियों से जोड़ दिया है। इससे मस्तिष्क तरंगों जैसी एक विद्युत प्रतिक्रिया होती है जिससे उपकरण का बल्ब लाल या हल्के नीले रंग में जल उठता है।

यह उपकरण संगीत, रोशनी और व्यक्ति की भावनाओं के अनुसार पौधों पर पड़ने वाले बाहरी प्रभावों से उसकी विद्युतीय गतिविधि में आए बदलाव को दर्शाता है। जैन व्याख्या साहित्य में वनस्पति में पांचों इन्द्रियों का अस्तित्व है, इसका उल्लेख

मिलता है। विशेषावश्यक भाष्य में वनस्पति में पांचों इन्द्रियों के अस्तित्व को व्यक्त करने वाले उदाहरण हैं—

श्रोत्रेन्द्रिय—सुन्दर कण्ठ एवं मधुर पञ्चम स्वर से उद्गीत श्रवण से विरहक वृक्ष पर पुष्प उग आते हैं। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होता है।

चक्षुरिन्द्रिय—सुन्दर स्त्री की आंखों के कटाक्ष से तिलक वृक्ष पर पुष्प खिल जाते हैं। इससे चक्षुरिन्द्रिय का लक्षण स्पष्ट परिलक्षित होता है।

घ्राणेन्द्रिय—विविध सुगन्धित पदार्थों से मिश्रित निर्मल शीतल जल के सिंचन से चम्पक वृक्ष पर फूल प्रगट हो जाते हैं। इससे घ्राणेन्द्रिय का लक्षण परिलक्षित होता है।

रसनेन्द्रिय—विशिष्ट रूपवाली तरुण स्त्री के मुख से प्रदत्त सुस्वादु शराब के कुल्ले का आस्वादन करने से बकुल पर फूल खिल जाते हैं। इससे रसनेन्द्रिय के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं।

छह जीवनिकाय में वनस्पति काय का जगत् बहुत विशाल है। इसके दो प्रकार हैं—१. साधारण वनस्पति २. प्रत्येक वनस्पति।

साधारण वनस्पति—जिसके एक ही शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। सारा निगोद इसी के अंतर्गत है।

प्रत्येक वनस्पति—जिसके एक शरीर में एक जीव रहता है वह प्रत्येक वनस्पति है।

प्रत्येक वनस्पति के प्रकार—

रुक्खा, गुच्छा गुम्मा, लता य वल्ली य पव्वगा चैव।

तण वलय हरिय ओसहि, जलरुह कुहणा य बोधव्वा।

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३३/१)

१. वृक्ष, २. गुच्छ, ३ गुल्म, ४ लता, ५. वल्ली, ६. पर्वग, ७. तृण, ८. वलय, ९. हरित, १० औषधि, ११. जलरुह, १२. कुहण

वृक्ष—जिसके मूल, कंद, स्कन्ध, प्रवाल, शाखा, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल सभी हों, वह वृक्ष कहलाता है। जैसे निम्ब, अम्ब आदि।

गुच्छ—जिसकी केवल पतली टहनियां और पत्तियां फैली हो, वह पौधा। जैसे बैंगन, तुलसी आदि।

वल्ली—ऐसी बेलें जो विशेषतः जमीन पर ही फैलती हैं।

गुल्म—विशेषतः फूलों के पौधों को कहते हैं। वह पौधा, जिसकी एक जड़ से कई तने निकलते हैं।

लता—ऐसी बेल जो वृक्ष के ऊपर चढ़ जाती है। जैसे चम्पक लता, नाग लता।

वलय—जिसकी त्वचा वलयाकार हो, वह वनस्पति जैसे ताल।

तृण—एक प्रकार की घास।

पर्वग—जिन वनस्पतियों के बीच-बीच में पोर या गांठें हों जैसे इक्षु आदि।

हरित—पालक, बथुआ आदि।

औषधि—एक फसला पौधा गेहूँ आदि।

जलरुह—जल स्थान में पैदा होने वाली वनस्पतियां।

कुहण—जो भूमि को फोड़कर निकलती है।

वृक्ष— वृक्ष के दो प्रकार हैं—एकास्थिक और बहुबीजक।

एकास्थिक वृक्ष —नीम, अम्ब, जम्बु, अंकोल (ढेरा) शाल, पुष्पाक (जायफल), पुतंजीवय (जियापोता) आदि। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३५)

बहुबीजक—अतिथय—अस्थिक (हड़जोड़ी), कपित्थ (कैथ), मातुलिङ्ग (बिजौरा), फणस (कटहल), सयरी (शतावरी), आमलग, देवदाल (घाघर बेल), अज्जुण (अर्जुन), कुत्थुंभरिय (धनिया), तिंदु (आबनूस), चन्दन... (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३६)

गुच्छ—वाइंगण (बैंगण), मातुलिङ्गी (चकोतरा), रूवि (सफेद आक), माल (मालती), पडोल (परवल) अट्टरुसक (आडूसा), आढइ (अरहर), एरावण (क्षुद्र खर्जूरी), गयमारिणी (श्वेत कनेर) आदि (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३७)

गुल्म—सेरियए (श्वेत पुष्पवाली कटसरीया), कौरट (पीले फूल वाली कटसरीया), कुज्जय (कुज्जा), मगदंतिया (मोगरा), सेवाल (शैवाल), सिन्दुवार (श्वेत पुष्प वाला संभालु) वत्थुल (बबूल), चम्पक (भुई चम्पा), कुंद (कुन्द-मोगरे जैसे पुष्प)।


(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३८)

लता—पद्मलता (लवङ्गलता), नागलता (पान की बेल) अशोक (अशोक रोहित लता), चंपयलता (चम्पाबहा) चूतलता (आमगुल) आदि। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३९)

वल्ली—पुष्पफल, कालिंग (तरबूज की बेल), तुम्बी, तउसी (त्रपुसी), एलबालुंकी (बालुका शाक), घोसाडई, पडोला (परवल), वालगी (वागटी), जासुवण (जपा कुसुम), अइमुत्तय क्षीरविराली (घोडवेल), गिरिकण्णई (अपराजिता), अक्कबोंदि (सूर्यमुखी) आदि।

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४०)

पर्वग— इक्षु, इक्षुवाटिका, भमास (घमास), एक्कट (इक्कट) उदए (सुगन्धवाला), कल्लाण (गरजन अश्वकर्ण) आदि। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४१)

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  33

तृण— सेडिय, भक्तिय (चिरायता), रोहियंस (दीर्घरोहिणतृण) आसाढए (नील दूर्वा), अज्जुण (अर्जुन), एरंड, कुरुविन्द (मुस्ता), सुंठ (शृंगबेर), विभंगू।

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४२)

वलय—ताल (ताड़), तमाल तक्कलि (अरणी), सरल (चीड़) साल (शाल), पूयफली (सुपारी), खज्जूरी (खर्जूरी) नालिएरी (नालिकेर)। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४३)

हरित—अम्भोरुह (कमल), वोडाण, तंदुलेज्जग, वत्थुला (बथुआ) मंडुक्की, (ब्राह्मी), जियंतय (जीवशाक), सयपुप्फा (बनसौंफ), दव्वी (दारु हल्दी), तंदुलेज्जग (चौलाई का शाक) आदि। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४४)

साली (चावल), बीहि (व्रीहि), गोधूम (गेहूँ), जवा (जौ), जवजवा (जई), मास (उड़द), सण (शण), सरिसव (सर्षप)। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४५)

जलरुह—उदए (सुगन्धवाला), नवए (शैवाल), पणए (काई), हढ़ (जलकुम्भी), उत्पल, पद्म, कुमुद, अरविन्द, भिस (कमलकन्द), भिसमुणाल (कमलनाल)

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४६)

कुहण—आए (आर्य), कुहण (पन्तिपर्ण) सज्जाय (बड़ीशाल) दल हलिया (दारु हल्दी), सप्फाईए (सप्ताश्व) छताए (जाल बर्बर)। (प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४७)

इस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र में प्रत्येक वनस्पति के ये बारह प्रकार दिए गए हैं। जैन आगम वनस्पति कोश में जब हम इनके स्वरूप की यात्रा करते हैं तब कुछ प्रश्न उभर कर सामने आते हैं कि जिन वनस्पतियों को सूत्र में लता, वल्ली, गुल्म, गुच्छ या वृक्ष के अन्तर्गत लिया गया है, वर्तमान में उपलब्ध साहित्य में उनका स्वरूप भिन्न रूप में मिलता है।

प्रत्येक वनस्पति में स्वरूप भेद—

कुज्जय—इसका उल्लेख गुल्म वर्ग में है। किन्तु यह गुलाब जाति की इतस्ततः फैलने वाली विस्तृत बेल है।

अत्थिय—इसका उल्लेख बहुबीजक वृक्ष के रूप में हुआ है किन्तु वनस्पति कोश में इसकी पहचान एक लता के रूप में है जो वृक्ष के सहारे ऊपर चढ़ जाती है।

देवदाली—इसका उल्लेख भी बहुबीजक में है लेकिन यह कर्कोट की लता के समान होती है।

वागली—इसका समावेश वल्ली वर्ग में है। वर्तमान साहित्य के अनुसार इसकी मजबूत कांटेदार झाड़ी होती है।

अक्कबोदि—यह वल्ली वर्ग की वनस्पति है किन्तु यह भृंगराजादि कुल का प्रसिद्ध पुष्प क्षुप है। अतिमुक्तक भी एक झाड़ीदार पौधा है।

चंपयलता—इसका उल्लेख लता वर्ग में है किन्तु यह सुगन्धित पुष्पों का क्षुप है।

एक वर्ग का दूसरे वर्ग में संक्रमण—

पटोला—गुच्छ वर्ग और वल्ली वर्ग दोनों में है।

अञ्जुण—तृण वनस्पति और बहुबीजक दोनों में उल्लिखित है।

सरिसव—हरित वनस्पति और औषधि वर्ग दोनों में है।

वत्थुल—हरित वनस्पति और गुल्म दोनों में है।

उदए—पर्वग वनस्पति और जलरुह दोनों में है।

जासुवण, जासुमण—लतावर्ग और गुच्छ वर्ग दोनों में है।

दब्बी, दब्बहलिया—दोनों एक ही वनस्पति के नाम हैं।

जैन आगम वनस्पति कोश में इन वनस्पतियों का जो स्वरूप बताया गया है उससे ऐसा लगता है कि बारह भेद वनस्पति की एक अवस्था को लेकर हैं। दूसरी अवस्था के आधार पर दूसरे वर्ग में भी इनका समावेश हो सकता है।

निघंटु कोश—धन्वन्तरि निघंटु, भाव प्रकाश निघंटु, शालिग्राम निघंटु आदि ग्रन्थों में लता और वल्ली दोनों का एक ही वर्ग है।

वल्लय वनस्पति का तृण वनस्पति में ही समावेश किया गया है।

तालाद्याः जातयः सर्वा क्रमुक केतकी तथा।

खर्जूरी नारिकेलाद्यास्तृणवृक्षा प्रकीर्तिताः ॥

(राजनिघंटु श्लोक ४७ पृ. २४)


निघंटु आदर्श उत्तरार्ध में यव, कंगु, चावल आदि औषधि वर्ग का भी तृण वनस्पति में समावेश किया गया है।

ठाणं सूत्र में वनस्पति के चार प्रकार हैं—

चउव्विहा तणवणस्सतिकाइया पण्णत्ता, तं जहा—अगबीया, मूलबीया, पोरबीया, खंधबीया। अगबीया — जिसके अग्रभाग में बीज होते हैं जैसे ब्रीहि आदि। मूलबीया — जिसके मूल ही बीज है जैसे उत्पल कंद आदि। पोरबीया—जिसका पर्व ही बीज है जैसे इक्षु आदि। खंधबीया—जिसका स्कन्ध बीज है जैसे सल्लकी आदि। इस सूत्र के आधार पर भी तृण वनस्पति में अनेक वनस्पतियों के वर्ग का समावेश हो सकता है।

साधारण वनस्पति के वृक्ष, लता आदि भेद

प्रत्येक वनस्पति के भेदों की यात्रा करने के बाद जब साधारण वनस्पति के शब्दों की, उसके स्वरूप की यात्रा करते हैं तब एक प्रश्न उभर कर सामने आता है कि प्रत्येक

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  35

वनस्पति के जो बारह भेद किये गये हैं, क्या वे भेद साधारण वनस्पति के नहीं होते हैं? यदि होते हैं तो ग्रन्थकार ने ये भेद क्यों नहीं किये? जैन साहित्य के सिवाय किसी भी साहित्य में वनस्पति का प्रत्येक और साधारण विभाग नहीं मिलता। निघंटु आदि कोशों के आधार पर तो साधारण वनस्पति के भी एकास्थिक, बहुबीजक, लता, वल्ली, गुल्म, गुच्छ, जलरुह आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

साधारण वनस्पति का स्वरूप

मियवालुंकि —(बड़ी इन्द्रायण) यह लता जाति की वनस्पति है। इसका फल तरबूज की भांति गोलाकार होता है। इसका रंग कच्ची अवस्था में हरा और पकने के बाद संतरे जैसा हो जाता है। गुदों के बीच हल्के-भूरे रंग के बीज होते हैं।

वज्ज—यह शाक वर्ग की एक लता है। यह जमीन में बोई जाती है। लता पर समय-समय पर मिट्टी चढ़ाई जाती है। आश्विन, कार्तिक में मिट्टी खोद कर निकाली जाती है। इसके कन्द दो प्रकार के होते हैं— लालकन्द और श्वेतकंद। श्वेत कंद को शक्करकन्द कहते हैं। असकण्णी—शाल। यह बड़ा सरल वृक्ष होता है, मूल पृथ्वी में गहरी गई हुई मोटी होती है, पत्र घोड़े के कान के समान विशाल होते हैं। शिराएं जिनमें स्पष्ट दिखाई देती हैं।

अवए—शैवाल, जलीय वनस्पति।

दंती—गुल्म जाति की वनस्पति होती है। प्रायः जड़ से ही अधिक शाखाएं निकलती हैं।

भंगी—इसका क्षुप सीधा ८ से १६ फीट तक ऊंचा होता है। फल बहुत छोटे और एक-एक बीज से युक्त होते हैं।

सूरणकन्द—इसका क्षुप दृढ़ होता है। इसके नीचे बड़े-बड़े कन्द होते हैं।

कंडरिया—रामचना। यह द्राक्षा कुल की बड़ी लता है। यह झाड़ियों, थूहर के वृक्षों पर खूब फैलती है। इस लता के नीचे लगभग ९ इंच का एक कंद बैठता है।

इसी प्रकार ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनका उल्लेख प्रत्येक और साधारण दोनों वनस्पति में हुआ है।

प्रत्येक और साधारण का संक्रमण

अवए—जलरुह और साधारण दोनों में।

छीर विराली—वल्ली वर्ग और साधारण दोनों में।

पणए—जलरुह और साधारण दोनों में।

सेवाल—गुल्म और साधारण दोनों में।

असकण्णी—यह साधारण वनस्पति है। साल शब्द एकास्थिक वृक्ष के अंतर्गत आया है।

पर्वक वनस्पति में कल्लाण शब्द आया है। उसका अर्थ भी गरजन और अश्वकर्ण किया है। असकण्णी का अर्थ शालवृक्ष किया है। इससे लगता है कि ये तीनों एकार्थक हैं। जीविय शब्द साधारण वनस्पति में और जिर्यंतिय शब्द हरित वर्ग में आया है। किन्तु दोनों एक ही वनस्पति है।

एक प्रश्न : एक समाधान

इस प्रकार ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रत्येक और साधारण दोनों में उल्लेख हुआ है। प्रश्न यह उठता है कि एक ही वनस्पति का दो जगह उल्लेख क्यों ?

इसका एक समाधान यह है कि साधारण वनस्पति के भी वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली आदि भेद हो सकते हैं। दिगम्बर साहित्य में भी ऐसा उल्लेख मिलता है—

प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं—

१. एक निगोद सहित २. दूसरे निगोद रहित (कार्तिकेयानुप्रेक्षा मूल/१२८)

तृण, वल्ली, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, मूल-कन्द, ये पांच भेद प्रत्येक वनस्पति के हैं। ये पांचों वनस्पतियां जब निगोद शरीर के आश्रित हों तो प्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती है तथा निगोद रहित हों तो अप्रतिष्ठित कही जाती है। दूसरा विकल्प यह है कि दो वर्गों में उल्लिखित एक ही नाम वाली वनस्पतियों में भेद भी हो सकता है। जैसा कि टीकाकार ने आमलग के लिए निर्देश किया है—

आमलग शब्द को मूल सूत्र में बहुबीजक के रूप में स्वीकार किया है। वर्तमान में प्रसिद्ध आमलग बहुबीजक नहीं है, इसलिए टीकाकार ने लिखा है—

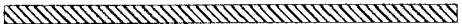
देशकाल की अपेक्षा से वनस्पति में भेद हो सकता है, इसलिए यहां लोक प्रसिद्ध आमलग का ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु देश विशेष के आमलग का ही ग्रहण करना चाहिए। इससे यह बात स्पष्ट है कि देश काल की अपेक्षा से एक फल का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। (प्रज्ञापना वृत्ति पत्र ३२)

तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि एक नाम की भिन्न-भिन्न वनस्पतियां भी हो सकती हैं। जैसे कण्ह वनस्पति का उल्लेख तीन जगह हुआ है—

कण्ह—वल्लीवर्ग—पीपल, कण्ह—हरित वर्ग—तुलसी, कण्ह—साधारण—रक्तउत्पल ग्रन्थकार ने साधारण और प्रत्येक वनस्पति की एक पहचान दी है।

अनन्तकायिक वनस्पति के लक्षण

जिस मूल के समान भंग होते हैं वह मूल अनन्तकायिक है। जिस कन्द के समान भंग होते हैं वह कंद अनन्तकायिक है। इसी प्रकार स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज आदि के लिए भी यही नियम है। (प्रज्ञापना पद १ सू ४८। गा १०-१९)

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  37

अनन्तकायिक त्वचा का लक्षण

जिस मूल के काष्ठ की त्वचा मोटी होती है वह अनन्त कायिक त्वचा है। इसी प्रकार कंद, स्कन्ध और शाखा की त्वचा के लिए भी यही नियम है।

(प्रज्ञापना पद १ सू ४८/गा. ३०३३)

अनन्त कायिक पत्र के लक्षण

जिस पत्र में शिरायें गूढ़-छिपी हुई रहती हैं। पत्र सक्षीर और निक्षीर दोनों प्रकार के होते हैं। जिसका सन्धिभाग दिखाई नहीं देता, वह पत्र अनन्तकायिक है।

(प्रज्ञापना पद १ सू ४८/गा ३९)

अनन्तकायिक का एक अन्य लक्षण

जिस मूलादि का भेदन करते समय समान भंग हो जैसे केदार के उपरिवर्ती के पपड़ी में होने वाली समान होती है। उस वनस्पति के भेदन करने से उसके ग्रन्थि भाग में सघन चूर्ण उड़ता हुआ दिखाई देता है।

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ४८/गा ३८)

प्रत्येक वनस्पति के लक्षण

जिस वनस्पति के मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के विषम भंग होते हैं वह प्रत्येक वनस्पति है।

(प्रज्ञापना पद १ सू ४८/गा. २०-२९)

प्रत्येक वनस्पति की त्वचा के लक्षण

जिस मूल, कन्द, स्कन्ध और शाखा के काष्ठ की शाखा पतली होती है वह प्रत्येक वनस्पति की त्वचा है। पुष्प के विषय में भी ग्रन्थकार ने एक विशेष संकेत दिया है—

जलज और स्थलज पुष्प के वृन्तबद्ध और नालिकाबद्ध दो प्रकार हैं। ये संख्यात, असंख्यात और अनन्तजीवी भी हो सकते हैं।

नालिकाबद्ध पुष्प संख्यातजीवी होते हैं। थूहर के फूल में अनन्तजीव होते हैं।

(प्रज्ञापना पद १ सू ४८ गा. ४०, ४१)

इसके बाद ग्रन्थकार ने कुछ प्रकीर्णक गाथायें दी हैं। उनमें उन वनस्पतियों का उल्लेख किया गया है जिसमें संख्यात और अनन्त जीवों के सन्दर्भ में कुछ विशेष बातें हैं, जैसे :—

पद्मकन्द, उत्पलिनीकन्द अन्तरकन्द, झिल्लिका ये अनन्तजीवी हैं इसके विस और मृणाल एकजीवी हैं।

पद्म, उत्पल, नलिन, सुभग, सौगन्धिक अरविन्द, कोकनद, शतपत्र, सहस्रपत्र का वृन्त, बाह्य पत्र और कर्णिका तीनों का जीव एक होता है। आभ्यन्तर पत्र केशरा और भिंजा ये तीनों प्रत्येकजीवी हैं।

वेणु, नल, इक्षुवाटिका, इक्षु, भमास, इक्कट, ऐरंड करकर सूंठ इनके पर्व, अक्षि और पर्व

परिवेष्टन तीनों एकजीवी होते हैं। पत्र प्रत्येकजीवी तथा पुष्प अनेकजीव अधिष्ठित होता है। पुष्पफल, कालिंग तुंब, त्रपुस, एलबालुंक, बालुंक, घोषाटक, पटोल, तिन्दुक, तिन्दुस इनके वृन्त, गुदा और गिरी तीनों एक जीव अधिष्ठित होते हैं।

सप्पास (सपाश्व) सर्जक, दव्वहेलिया कुहण कुन्दुक इन्हें अनन्तकायिक माना गया है। कंदुक वनस्पति में भजना है। देशविशेष से वह अनन्तकायिक भी हो सकती है और असंख्यजीवी भी होती है। (प्रज्ञापना पद १ सू ४८ गा ४२-५०)

साधारण और प्रत्येक जिज्ञासा के घेरे में

ग्रंथकार ने प्रत्येक और साधारण वनस्पति के बीच यह भेद रेखा खींची है किन्तु स्थूल बुद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि अनन्तकायिक वनस्पति वर्ग में जितने शब्द आये हैं उसके मूल, कन्द, स्कन्ध, प्रवाल, त्वचा, पत्र, पुष्प और फल सारे अनन्तकायिक होते हैं या नहीं?

यदि सारी अवस्थायें अनन्तकायिक होती हैं तब प्रत्येक वनस्पति में इनका संक्रमण क्यों हुआ? इनका भी अलग वर्ग होना चाहिए। यदि सारी अवस्थायें अनन्तकायिक नहीं होती हैं तब किस अवस्था को केन्द्र में मानकर इस वर्ग का निर्धारण किया गया है।

प्रत्येक वनस्पति के लिए सूत्र में निर्देश है कि उसके मूल, कन्द, स्कन्ध त्वचा, शाखा, प्रवाल में असंख्यात पत्र में एक जीव तथा पुष्प में अनेक जीवों का निर्देश है वैसे साधारण वनस्पति के लिए कोई निर्देश नहीं है।

प्रकीर्णक गाथा ५० में जिन वनस्पतियों का उल्लेख है उन वनस्पतियों का जलरूह प्रत्येक वनस्पति में भी उल्लेख है। प्रश्न यह उठता है ये दोनों वनस्पतियाँ एक हैं या दो, क्योंकि यहाँ इन्हें अनन्तकायिक माना है। यदि ऐसा माना जाए कि देश-विदेश की अपेक्षा से ये दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं तब ग्रन्थकार को कंदुक वनस्पति जो इसी गाथा में आई है उसमें भजना मानी है। उसकी तरह इनमें भी भजना कहनी चाहिए थी।

प्रकीर्णक गाथा ४३ में पलंडू, ल्हसणकन्द, कंदली और कुस्तुम्भ को प्रत्येकजीवी कहा है। उत्तराध्ययन में इनको अनन्तकायिक में लिया गया है—

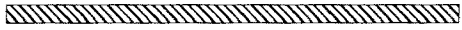
पलंडू ल्हसणकंदे य कंदली कुडुंबए। एए परित्त जीवा जो यावण्णे तहाविहा।

प्रज्ञापना पद १ सू ४८/४३।

साधारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तियां ।... पलंडू लसणकंदे य कंदली य कुडुंबए ॥

उत्तराध्ययन ३६/९६, ९७

ये गाथाएं विमर्श मांगती हैं कि दोनों में यह अन्तर क्यों? इन्हें अनन्तकायिक माना

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  39

जाए या प्रत्येकजीवी? मूलग शब्द भी विमर्शणीय है, क्योंकि मूलग शब्द का उल्लेख अनन्तकायिक में भी है तथा औषधि और हरित वर्ग में भी है। दोनों भिन्न हैं या एक?

आलुग शब्द का उल्लेख अनन्तकायिक वनस्पति में हुआ है किन्तु वर्तमान में जो आलू उपलब्ध है इसका मूल उत्पत्ति स्थान पेरू है। वहां इसे बताता के नाम से बोलते हैं। भारत में यह अंग्रेजों के समय आया। वे इसे पोटेटो कहते थे। भारत में आलुबुखारे के आकार का होने के कारण इसे आलू कहने लगे। चिन्तनीय बिन्दु यह है कि आगम में उल्लिखित आलू और वर्तमान में उपलब्ध आलू एक है या दो? क्योंकि वर्तमान में जो आलू है उसके आगमन का इतिहास तो भारत के लिए प्राचीन नहीं है। आगम में उल्लिखित आलू प्राचीन है। उसका क्या रूप था? यह चिन्तनीय है।

इस प्रकार ग्रंथों में साधारण और प्रत्येक वनस्पति के बीच एक भेद रेखा होने पर भी वर्तमान में उसका स्पष्ट स्वरूप समझ की सीमा के परे है। प्रज्ञापना के प्रथम पद में उपलब्ध वनस्पतियों की सम्यक् अवधारणा के लिए गहरे शोध की अपेक्षा है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ की शिष्या
सम्पर्क—
जैन विश्व भारती, लाडनूं

द्वन्द्व और द्वन्द्व निवारण


जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

✍ डॉ. सुरेन्द्र वर्मा

आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में द्वन्द्व (कंपलक्ट) एक बहुत महत्वपूर्ण अवधारणा है किन्तु द्वन्द्व का स्वरूप, उसके स्तर और प्रारूप तथा द्वन्द्व का निराकरण आज भी बहुत कुछ एक समस्या बना हुआ है। प्रत्येक शास्त्र ने द्वन्द्व को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। मनोविज्ञान जहाँ द्वन्द्व को मूलतः दो वृत्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति के रूप में स्वीकार करता है, वहीं समाजशास्त्र द्वन्द्व में निहित दो पक्षों के बीच 'विरोध' पर बल देता है। राजनीति में द्वन्द्व को सशस्त्र-युद्ध या शीत-युद्ध के रूप में देखा गया है।

फादर कामिल बुल्के ने अंग्रेजी-हिन्दी कोश¹ में 'कंपलक्ट' के तीन अर्थ दिए हैं, युद्ध, संघर्ष या द्वन्द्व तथा विरोध। यह स्पष्ट है कि आज राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र ने इन तीनों ही अर्थों को क्रमशः स्वीकार कर लिया है।

क्या प्राचीन भारतीय दर्शन में हममें द्वन्द्व की अवधारणा मिलती है? हम इस प्रश्न को विशेषकर जैनदर्शन के प्रसंग में देखना चाहेंगे। महावीर की शिक्षाएं हमें मुख्यतः प्राकृत भाषा में उपलब्ध हैं। प्राकृत में द्वन्द्व को 'दंद' कहा गया है। प्राकृत-हिंदी कोश² में दंद का एक अर्थ तो व्याकरण-प्रसिद्ध उभय पद-प्रधान समास से है। किन्तु स्पष्ट ही यह अर्थ हमारी द्वन्द्व-चर्चा में अप्रासंगिक है। अन्य अर्थ हैं-1. परस्पर विरुद्ध शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि युग्म; 2. कलह, क्लेश;

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  41

और ३. युद्ध। समणसुत्त के अंत में जोड़े गए पारिभाषिक शब्द कोश में भी द्वन्द्व को इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख, जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि परस्पर विरोधी युगल-भाव द्वारा परिभाषित किया गया है।

उपर्युक्त अर्थों के विश्लेषण से द्वन्द्व के दो रूप स्पष्ट होते हैं। एक तो द्वन्द्व, युद्ध या 'द्वन्द्व-युद्ध' के अर्थ में प्रयुक्त होता है और दूसरे वह परस्पर विरोधी युगल भावों को अभिव्यक्ति देता है।

दो विरोधी व्यक्तियों या दलों के बीच पूर्वनिश्चित या जाने माने नियमों के अनुसार प्रचलित शस्त्रों द्वारा युद्ध को द्वन्द्व या द्वन्द्व-युद्ध कहते हैं। ऐसे युद्ध प्राचीन काल में बहुत से देशों में प्रचलित थे। भारत में वैदिक काल में भी द्वन्द्व युद्धों का प्रचलन मिलता है। उत्तर वैदिक काल में इनके संबंध में नए नियम बनाकर पूर्व प्रचलित प्रथा में सुधार किया गया। रामायण और महाभारत में द्वन्द्व-युद्धों के अनेक उल्लेख हैं। राम-रावण, बालि-सुग्रीव तथा दुर्योधन-भीम के युद्ध इसके उदाहरण हैं। जो बातें अन्य प्रकार से नहीं सुलझाई जा सकती थीं उनके निर्णय के लिए नीति अपनाई जाती थी। इसके मूल में यह विश्वास था कि इन युद्धों में ईश्वर उसी को जिताता है जिसके पक्ष में न्याय होता है।^१

द्वन्द्व-युद्धों का युग अब समाप्त हो चुका है। अब दो पक्षों (व्यक्ति नहीं) के बीच सशस्त्र या शीत-युद्ध होते/चलते हैं। युद्ध के अतिरिक्त 'द्वन्द्व' परस्पर विरोधी युगल भावों को अभिव्यक्ति देता है। 'द्वन्द्व' के इस अर्थ में कई बातें निहित हैं—

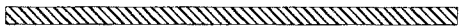
१. द्वन्द्व बिना युग्म के संभव नहीं है। शीत-उष्ण, सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट, संयोग-वियोग, ऐसे ही युगल भाव हैं जो द्वन्द्व के लिए अनिवार्य हैं। ये युग्म विभिन्न क्षेत्रों से उठाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'शीत-उष्ण' भौतिक परिवेश संबंधी युग्म है जबकि संयोग-वियोग का क्षेत्र सामाजिक है। इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख आदि व्यक्ति की मनोदशाओं से संबंधित हैं। जैनदर्शन में मनोवैज्ञानिक या आंतरवैयक्तिक युग्मों का विशेषकर उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए एक गाथा लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, और मान-अपमान के प्रति समानभाव विकसित करने के लिए कहती हैं।^२

२. युग्म में विरोधी-भाव होना आवश्यक है। जिस युग्म में विरोधी भाव नहीं होता, वह द्वन्द्व की स्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। ऐसे तमाम युग्म गिनाए जा सकते हैं जो एक-दूसरे के पूरक होते हैं, विरोधी नहीं। ऐसे 'युग्म' द्वन्द्व को जन्म नहीं देते। द्वन्द्व के लिए युग्म का एक दूसरे का पूरक होना अनावश्यक है। उनका परस्पर विरोध में होना जरूरी है। सुख और शांति का युग्म एक दूसरे का विरोधी नहीं है, अतः इससे द्वन्द्व असंभव है। जैन

दर्शन में कई स्थलों पर 'सुख और शांति' जैसे युग्मों का उल्लेख हुआ है लेकिन उन्हें कभी द्वन्द्वात्मक स्थिति में प्रदर्शित नहीं किया गया है, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

३. द्वन्द्व और उसके निवारण के लिए आवश्यक है कि हम 'विरोध' को जाने और समझें, उससे अवगत हों। जब तक 'विरोध' की पहचान नहीं होती, द्वन्द्व भी निर्मित नहीं होता। यह बात सामाजिक क्षेत्र में उपस्थित द्वन्द्व पर विशेषकर घटित होती है। मान-अपमान, न्याय-अन्याय की स्थितियों में जब तक विरोध 'देखा' नहीं जाता, द्वन्द्व की स्थिति नहीं बन पाती। हजारों साल से शोषित और दलित वर्ग समाज में अपने अपमान के प्रति अवगत ही नहीं हो पाते और इस प्रकार यथास्थिति बनाए रखने में मानों अपना योगदान ही देते हैं। जैनदर्शन में कई स्थलों पर मान-अपमान की स्थिति के प्रति अवगत कराने का प्रयास किया गया है— भले ही इसका उद्देश्य मान-अपमान की स्थिति के द्वन्द्व को समाप्त करना ही क्यों न रहा हो। एक स्थल पर महावीर मान-अपमान तथा हर्ष और क्रोध के द्वन्द्व की निरर्थकता बताते हुए हमें अवगत करते हैं कि व्यक्ति अनेक बार उच्च गौत्र और अनेक बार नीच गौत्र का अनुभव कर चुका है, अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त अर्थात् उच्च। अतः स्पृहा न कर। ऐसे में भला कौन गौत्रवादी या मानववादी होगा और अपनी स्थिति पर आसक्ति रख सकेगा? इसलिए पुरुष को हर्षित/कुपित नहीं होना चाहिए।^१ महावीर हमें अपनी द्वन्द्वात्मक स्थितियों के प्रति सदा जाग्रत रहने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं—अज्ञानी सदा सोते हैं और ज्ञानी सदा जागते हैं।^१ वैर (विरोध) से जिन्होंने अपने को उबार लिया है, ऐसे जाग्रत व्यक्ति ही वस्तुतः वीर है।^१

४. द्वन्द्व की अवस्था में युगल-भाव विरोध की स्थिति में होते हैं और दोनों ही पक्ष इस विरोध की स्थिति के प्रति अवगत होते हैं। इसके अतिरिक्त विरोध सदैव परस्पर और अंतर-संबंधित होता है। यह अंतरसंबंध कुछ इस प्रकार का होता है कि एक पक्ष की हानि, दूसरे के लाभ के रूप में या एक का लाभ, दूसरे की अपेक्षाकृत हानि के रूप में देखा जाता है। यदि एक का लाभ दूसरे को हानि न पहुँचाए तो द्वन्द्व की स्थिति बन ही नहीं सकती। यदि एक के लाभ में दोनों का लाभ हो अथवा एक की हानि में दोनों की हानि हो तो स्थिति विरोध की न होकर मैत्री की अधिक होगी। अतः कहा जा सकता है कि विरोध की स्थिति के निर्माण के लिए परस्पर विरोधी ही नहीं बल्कि एकांगी दृष्टिकोण होना अत्यंत आवश्यक है। परस्पर एकांगी दृष्टिकोण अपने लाभ में दूसरे को हानि और दूसरे की हानि में अपना लाभ देखता है। जैन दर्शन ने सदैव ही इस दृष्टि का खण्डन किया है और इस प्रकार एकांगी दृष्टि के त्याग में ही द्वन्द्व के निराकरण को संभव बताया है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  43

५. द्वन्द्व की परिणति

द्वन्द्व परस्पर एकांगी दृष्टि के कारण अशुभ भावनाओं और भ्रष्ट आचरण में होते हैं। अशुभ-भावनाओं को जैनदर्शन में 'कषाय' कहा गया है। कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आत्मघातक विकार हैं। जाहिर है ये सभी अशुभ-भावनाएं द्वन्द्व की स्थिति में दूसरे पक्ष को हानि पहुंचाने में सहायक समझी गई हैं लेकिन साथ ही ये आत्मघातक भी हैं। इन भावनाओं से प्रेरित व्यवहार भ्रष्ट व्यवहार है। द्वन्द्व में सदैव ही कोई न कोई उग्र उद्वेग संलग्न होता है जो व्यक्ति में एक विशेष प्रकार के आचरण को प्रेरित करता है और द्वन्द्व में उपस्थित इस उद्वेग का स्वरूप सामान्यतः नकारात्मक ही होता है। अतः द्वन्द्व के निराकरण के लिए इन नकारात्मक उद्वेगों को समाप्त करना अत्यंत आवश्यक है। जैन दर्शन में न केवल ऐसे चार उग्र उद्वेगों (कषायों) का वर्णन किया गया है बल्कि उनसे युक्ति के लिए कषायों की विपरीत भावनाओं को विकसित करने के लिए भी कहा गया है।^१

द्वन्द्व के प्रकार

द्वन्द्व का यदि हम क्षेत्रानुसार वर्गीकरण करें तो इसे कई स्तरों पर समझा जा सकता है—आंतरवैयक्तिक द्वन्द्व मानसिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व। इस प्रकार के द्वन्द्व को व्यक्ति अपनी दो परस्पर विरोधी या असंगत इच्छाओं/वृत्तियों के बीच अनुभव करता है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति अपनी किसी इच्छा की संतुष्टि चाहता है और इतर कारणों से यदि इसे संतुष्ट नहीं कर पाता तो वह ऐसे ही द्वन्द्व में फंसता है। 'चाहूं' या 'न चाहूं' का यह द्वन्द्व उसे नकारात्मक भावों से भर देता है। इस प्रकार मानसिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व विपरीत कामनाओं का और उनकी संतुष्टि-असंतुष्टि का द्वन्द्व है।

लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि भावनाओं से संबंधित द्वन्द्व, जिनका जैन दार्शनिक साहित्य में यथेष्ट उल्लेख हुआ है—इसी प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार के द्वन्द्व में व्यक्ति आंतरिक रूप से टूट जाता है और समझ नहीं पाता कि वह क्या करे।

अंतरवैयक्तिक द्वन्द्व, व्यक्ति और व्यक्ति के बीच निर्मित होने वाले द्वन्द्व हैं। इस प्रकार के द्वन्द्व में दो व्यक्तियों के बीच अपने-अपने वास्तविक या कल्पित हित को लेकर विरोध होता है। इसमें एक व्यक्ति का हित दूसरे के अहित के रूप में देखा जाता है।

सामुदायिक द्वन्द्व व्यक्ति और समूह (समुदायों) के बीच का द्वन्द्व है।

अंतर—सामुदायिक द्वन्द्व दो समूहों (समुदायों) के बीच का द्वन्द्व है।

संगठनात्मक द्वन्द्व व्यक्ति और जिस संगठन में वह कार्य करता है उसके बीच का संघर्ष है।

अंतरसंगठनात्मक द्वन्द्व दो संगठनों के बीच का द्वन्द्व है।

साम्प्रदायिक द्वन्द्व दो संप्रदायों के बीच का द्वन्द्व है।


जाहिर है द्वन्द्व के उपरोक्त सभी स्तर (प्ररूप) दो पक्षों के विपरीत हित-अहित के विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व हैं।

जैन दार्शनिक साहित्य में हमें द्वन्द्व के इन सभी स्तरों का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता। लेकिन यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि जैनदर्शन द्वन्द्व के इन सभी प्रारूपों में आंतरवैयक्तिक द्वन्द्व को सर्वाधिक महत्व देता है, क्योंकि द्वन्द्व की आंतरवैयक्तिक स्थिति ही अंततः सभी अन्य स्तरों पर किसी न किसी रूप में उपस्थित देखी जा सकती है। यदि व्यक्ति के अन्दर द्वन्द्व नहीं है तो स्पष्ट ही वह अपने बाह्य संबंधों में द्वन्द्व की स्थिति नहीं बनने देता है।

वस्तुतः द्वन्द्व के मोटे तौर से दो ही आयाम हैं—आंतरिक और बाह्य। जिसने आंतरिक द्वन्द्व पर—अपनी आत्मा में संपन्न होने वाले संघर्ष पर—विजय प्राप्त कर ली है, उसी को सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है अर्थात् वही सुख-दुःख का कर्ता और विकर्ता है। अविजित कषाय और इन्द्रियाँ-इन्हीं को जीत कर निर्बाध विचरण करना सर्वश्रेष्ठ है। अतः महावीर कहते हैं, बाहरी युद्धों (द्वन्द्वों) से क्या? स्वयं अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीत कर ही द्वन्द्व से मुक्त हुआ जा सकता है। किन्तु अपने पर यह विजय प्राप्त करना कठिन अवश्य है।¹⁶

आंतरवैयक्तिक द्वन्द्व, जो व्यक्ति के आंतरिक संघर्ष की ओर संकेत करता है, सभी अन्यान्य द्वन्द्वों के मूल में होता है। यदि मनुष्य आंतरिक द्वन्द्व से उत्पन्न कषायों पर नियन्त्रण प्राप्त कर ले तो वस्तुतः सारे बाह्य द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। अध्यात्म से बाह्य तक एकरूपता है। जैनदर्शन का यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति अध्यात्म को जानता है, बाह्य को भी जान लेता है। इसी प्रकार जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।¹⁷

जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को यदि हम द्वन्द्व-स्थिति पर घटित करें तो इससे यह पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगा कि बाह्य और आंतरिक द्वन्द्व का मूलस्वरूप एक-सा है। मनोवैज्ञानिक विरोधी युग्म-भावनाएँ जो आंतरिक द्वन्द्व को जन्म देती हैं, वे ही बाह्य युद्ध और द्वन्द्व में भी उपस्थित रहती हैं। वस्तुतः लाभ-अलाभ, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा की विरोधी युगल-भावनाएँ ही अंततः बाह्य द्वन्द्वों पर भी उतनी ही क्रियाशील हैं जितनी व्यक्ति की आध्यात्मिक टूटन के लिए उत्तरदायी हैं। अतः बाह्य द्वन्द्वों से बचने के लिए भी मनुष्य को मूल रूप से स्वयं अपने से ही संघर्ष करना है—अपने कषायों पर ही विजय प्राप्त करना है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  45

द्वन्द्व निराकरण के लिए दार्शनिक मनोगठन—अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन दर्शन में द्वन्द्व एक वांछनीय स्थिति नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र भी द्वन्द्व का प्रतिफल है, हम नकारात्मक भावनाओं और अवांछनीय आचरण में देखते हैं। किन्तु एक सीमित अर्थ में द्वन्द्व को रचनात्मक भी माना गया है। वस्तुतः आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार द्वन्द्व न तो अपने आपमें शुभ है, न अशुभ, क्योंकि उसके परिणाम कुल मिलाकर शुभ और अशुभ दोनों ही हो सकते हैं। रचनात्मक दृष्टि से द्वन्द्व को एक ऐसे अवसर के रूप में देखा जा सकता है जो व्यक्ति/समाज के विकास और सृजनात्मकता के लिए सहायक है। द्वन्द्व व्यक्ति को कर्म के लिए प्रेरित करने वाला एक तत्व बन सकता है¹⁸ लेकिन जैनों का समस्त दर्शन कर्म के क्षय पर टिका है, इसलिए कर्म को प्रेरित करने वाले तत्व जैनदर्शन में शुभ नहीं माने जा सकते। द्वन्द्व इस प्रकार यदि कर्म को प्रेरित करता भी है तो भी शुभ नहीं है और यदि नकारात्मक उद्वेगों को सक्रिय करता है तो ऐसे में वह अशुभ है ही। अतः जैनदर्शन कुल मिलाकर विरोधी द्वन्द्व भावों से व्यक्ति को ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित करता है। वह द्वन्द्व-भावों के अतिक्रमण को ही श्रेष्ठ मानता है।

किन्तु द्वन्द्व का यह अतिक्रमण कैसे किया जाए? इसके लिए कई प्रविधियां हो सकती हैं। किन्तु इन प्रविधियों का उपयोग मनुष्य तभी कर सकता है जब वह एक ऐसे उदार दार्शनिक मनोगठन को स्वीकार करे जिसमें पक्षधरता न हो। द्वन्द्व में सदैव दो पक्ष होते हैं और हर पक्ष अपने विरोधी पक्ष को नकारता है, उसकी दृष्टि से वह द्वन्द्व की स्थिति को देख ही नहीं पाता। एकांगी दृष्टि अपनाकर वह दूसरे पक्ष की दृष्टि को पूरी तरह खारिज कर देता है। परन्तु जैनदर्शन का वैचारिक-गठन एकांगी नहीं है। वह अनेक-आयामी है।


जैन दर्शन मानता है कि हर वस्तु में अनंत गुण होते हैं—‘अनंत धर्मात्मक वस्तु’। सत्ता बहुरूपधारी है। आम तौर पर हर वस्तु के धर्मों (गुणों) के दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं, स्वपर्याय और परपर्याय। स्वपर्याय किसी भी वस्तु के वे गुण हैं जो उसके अपने स्वरूप के परिचायक हैं। ये भावात्मक धर्म हैं। परपर्याय वस्तु के अपने गुण न होकर दूसरी वस्तु के गुण होते हैं जिनसे किसी वस्तु की भिन्नता को रेखांकित किया जाता है। हम मनुष्य का ही उदाहरण लें। उसका आकार, रूप, रंग, कुल, गौत्र, जाति, व्यवसाय, जन्मस्थान, निवासस्थान, जन्मदिन, आयु, स्वास्थ्य आदि उसके भावात्मक धर्म हैं। इनसे उस व्यक्ति विशेष का परिचय और उसकी पहचान मिलती है। किन्तु किसी मनुष्य को पूर्णरूप से जानने के लिए यह भी जानना होगा कि वह क्या नहीं है। अन्य वस्तुओं और अन्य मनुष्यों से उसकी भिन्नता में भी उसे समझना होगा। ये उसके अभावात्मक लक्षण (पर पर्याय) होंगे।

अतः एक वस्तु के बारे में अनन्त गुणों और दृष्टिकोणों को लेकर अनन्त कथन किये जा सकते हैं। इस प्रकार किसी भी विषय के बारे में कोई भी कथन ऐकान्तिक या निरपेक्ष नहीं हो सकता। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियों और सीमाओं के अधीन होते हैं एक ही वस्तु के बारे में, अतः जो दो भिन्न दृष्टिकोणों से कथन किए जाते हैं वे एक दूसरे के विपरीत भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक कथन का सत्य सापेक्षित है। यदि सही रूप से देखना है तो जैन दर्शन के अनुसार हमें प्रत्येक कथन के पहले 'स्यात्' अथवा 'कदाचित्' लगा देना चाहिए। इससे यह सांकेतिक हो सकेगा कि यह कथन सापेक्ष माना है, किसी एक दृष्टि या सीमा के अधीन है और किसी भी तरह निरपेक्ष नहीं हैं। ऐसा कोई कथन नहीं है जो पूर्णतः सत्य या पूर्णतः मिथ्या हो। सभी कथन एक दृष्टि से सत्य हैं तो दूसरी दृष्टि से मिथ्या हैं। इस प्रकार अनेकान्तवाद हमें स्याद्वाद की ओर स्वतः ले जाता है।

यदि वस्तुस्थिति वास्तव में अनेकान्तिक है तो आवश्यक है कि हम वस्तु से संबंधित अपने कथन में 'स्यात्' शब्द जोड़ दें। वस्तुओं की अनन्त जटिलता के कारण कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। बेशक इसका यह अर्थ नहीं है कि हम कोई कथन कर ही नहीं सकते। हां, निरपेक्ष या ऐकान्तिक कथन असंभव है। वस्तु का गत्यात्मक चरित्र हमें केवल सापेक्षित या सोपाधिक कथन करने के लिए ही बाध्य करता है।

जैन दार्शनिकों ने अपने इस सिद्धान्त को उस हाथी के द्वारा समझाना चाहा है जिसके बारे में कई अंधे व्यक्ति अपना-अपना कथन कर रहे होते हैं और वे अलग-अलग निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। उनमें से हर कोई हाथी का अपने सीमित अनुभव द्वारा, ज्ञान प्राप्त कर पाता है। हर कोई हाथी के किसी एक हिस्से को छूता है और तदनुसार उसका वर्णन करता है। जो उसका कान पकड़ लेता है वह हाथी को 'सूप' की तरह बताता है। जो उसके पैर पकड़ता है वह उसे खम्भे की तरह बताता है, इत्यादि। सच यह है कि हाथी को अपनी संपूर्णता में किसी ने भी नहीं देखा है। हरेक ने केवल उसके किसी एक ही अंग का स्पर्श किया है। इसलिए वस्तुतः कोई नहीं कह सकता कि संपूर्ण हाथी कैसा है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है, हो सकता है हाथी सूप की तरह हो अथवा हो सकता है वह खम्भे की तरह हो।

'हो सकता है', 'कदाचित्', 'स्यात्', 'शायद'-ये शब्द हैं जो बार-बार हमें याद दिलाते हैं कि हम यथार्थ को केवल आंशिक रूप से ही जान पाते हैं। स्याद्वाद इस प्रकार हमें अपने निर्णयों में अत्यंत सावधानी के लिए आमंत्रित करता है। वह वास्तविकता को परिभाषित करते समय हमें सभी प्रकार के मताग्रहों में बचने के लिए सावधान करता है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  47

जैनदर्शन में स्याद्वाद के साथ दार्शनिक सूक्ष्मता और सुकुमारता मानों अपने चरम पर पहुँच जाती है।

द्वन्द्व की स्थिति में प्रत्येक पक्ष ऐकान्तिक दृष्टिकोण अपनाता है और यही उसके निराकरण में सबसे बड़ी कठिनाई है। जब तक ऐकान्तिक दृष्टि को अपनाये रहेंगे और दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण को अनदेखा करते रहेंगे, हम द्वन्द्व को समाप्त करने की बात सोच ही नहीं सकते। इसलिए जैनदर्शन हमें सर्वप्रथम उस वैचारिक-मानसिक गठन को विकसित करने के लिए आमंत्रित करता है जो अनेकान्त और स्याद्वाद की धारणाओं के अनुरूप हो।

द्वन्द्व निराकरण की प्रविधियाँ

आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में द्वन्द्व निराकरण के अनेक उपाय बताए गए हैं। किन्तु ये सारे उपाय तभी सफल हो सकते हैं जब हम कुल मिलाकर अपने मानसिक गठन को इनके उपयुक्त बना सके। कैट्स और लॉयर ने परस्पर विरोधी हितों पर आधारित द्वन्द्व के निराकरण हेतु जिस **ओवरऑल फ्रेम** व्यापक मनोगठन की चर्चा की है उसमें चार तत्व महत्वपूर्ण बताए गए हैं। ये हैं—

एक दूसरे के लिए सम्मान और न्यायप्रियता (Respect and integrity)

सौहार्दपूर्ण संपर्क (Repport)

साधनसंपन्नता (Resourcefulness)

एक रचनात्मक वृत्ति (Constructive attitude)

सम्मान और न्यायप्रियता का अर्थ है कि हम द्वन्द्व की स्थिति में दूसरे पक्ष के विरोधी आचरण के बावजूद उसके लिए एक सकारात्मक दृष्टि को बनाए रखें। हम उसके व्यवहार को भले ही अच्छा न समझें और उसे अस्वीकार कर दें पर मानव होने के नाते उसे जो प्रतिष्ठा और सम्मान मिलना चाहिए, उससे वंचित न करें। न्यायप्रियता का अर्थ है हम अपने प्रति ईमानदार हों और जो भी कहें/करें उसे अनावश्यक रूप से गुप्त न रखें। हमारा व्यवहार पारदर्शी हो। उसमें हम केवल एक ही पक्ष के हित पर विचार न करें।

द्वन्द्व के निराकरण हेतु यह भी आवश्यक है कि किसी भी हालात में हम दूसरे पक्ष से अपना सम्पर्क पूरी तरह तोड़ न लें। परिस्थिति को इस प्रकार ढालें कि एक सकारात्मक संबंध बना रह सके और दूसरा पक्ष हमारी बात सुनने/समझने के लिए तत्पर रहे।

द्वन्द्व और तनाव से परिपूर्ण परिस्थितियों के दबाव में हम अक्सर एक प्रकार के मानसिक प्रमाद से ग्रस्त हो जाते हैं और उन संसाधनों के प्रति जिनका हम द्वन्द्व निराकरण के लिए उपयोग कर सकते हैं, प्रायः उदासीन हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम

निराकरण के प्रति अपनी पूरी जागरूकता बनाए रखें और अपनी सभी योग्यताओं और क्षमताओं का इस दिशा में पूरा-पूरा उपयोग कर सकें। यही साधन-संपन्नता है और अंत में रचनात्मक वृत्ति। जब तक हम रचनात्मक वृत्ति को नहीं अपनाते द्वन्द्व असंभव है।

किसी भी पक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह इस बात के प्रति आश्वस्त हो कि द्वन्द्व का निराकरण, यदि उचित प्रबंध किया जाए तो अवश्य हो ही जाएगा। यह रचनात्मक वृत्ति द्वन्द्व से निपटने के लिए बहुत सहायक होती है।

यदि हम ध्यान से देखें तो उपर्युक्त एक व्यापक मनोगठन-एक दूसरे के प्रति सम्मान और सौहार्दपूर्ण संपर्क तथा जागरूकता और रचनात्मक वृत्ति ठीक उसी प्रकार की दार्शनिक-मानसिक बनावट है जिसे हम जैनदर्शन के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में पाते हैं। द्वन्द्व की स्थिति में हम दूसरे पक्ष को समादर नहीं दे पाते। इसका मूल कारण यही है कि हम ऐकांतिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। यदि दृष्टिकोण यह हो कि दूसरा पक्ष भी अपने पक्ष की ही तरह सही या गलत हो सकता है तो दूसरे पक्ष के प्रति असम्मान के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार सौहार्दपूर्ण संपर्क भी तभी बना रह सकता है जब हम केवल अपने दृष्टिकोण को ही अंतिम न मानकर, दूसरे के पक्ष को समझने के लिए तत्पर हों। दूसरे के लिए भी अंततः अनेकान्तवादी मनोगठन की ही आवश्यकता है। अनेकान्तिक मनोगठन अपने आप ही हममें जागरूकता और रचनात्मक वृत्ति उत्पन्न करता है। जैनदर्शन में जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, जाग्रति पर बहुत बल दिया गया है। कहा गया है, अज्ञानी सदा सोते हैं और ज्ञानी सदा जागते हैं।^{१३}

भाव-शुद्धि—द्वन्द्व-निवारण के लिए एक व्यापक रूप से अनेकान्त दृष्टि तो आवश्यक है ही, साथ में कुछ मूर्त उपाय भी हैं जो द्वन्द्व समाधान की ओर निस्संदेह संकेत करते हैं। इनमें से एक है-भाव-शुद्धि।

द्वन्द्व के स्वरूप को बताते हुए हमने यह रेखांकित किया था कि द्वन्द्व सदैव किसी न किसी उग्र-संवेग से आवेष्टित होता है और यह संवेग या भाव सदैव ही विकार युक्त होते हैं। जैनदर्शन में ऐसे चार विकार जिन्हें कषाय कहा गया है, बताए गए हैं—ये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। यदि हम 'शीतोष्णीय' द्वन्द्व^{१४} से निजात पाना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें इन कषायों पर विजय प्राप्त करनी होगी। इन पर विजय प्राप्त करने का आखिर तरीका क्या है? इस सन्दर्भ में धर्म-ग्रंथ कहता है कि क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भाव-शुद्धि है।^{१५} अतः यदि हम द्वन्द्व से विरत होना चाहते हैं तो इन कषायों से हमें अपने आप को मुक्त करना होगा।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  49

इसका उपाय यह है कि कषायों पर ध्यान न देकर उन मधुर-भावनाओं पर हम अपना ध्यान केन्द्रित करें जिनके कषाय प्रतिपक्षी हैं। वे मधुर-भावनाएँ क्या हैं? कहा गया है कि क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।¹⁶ अतः कहा जा सकता है कि कषाय उन सारे भावों को—प्रीति, विनय और मैत्री आदि को—जो द्वन्द्व निराकरण में सहयोगी हो सकते हैं—नष्ट कर देते हैं। कषायों पर विजय प्राप्त करना इसीलिए बहुत आवश्यक है। इन पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जाए। धर्मग्रन्थ कहता है कि हम क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतें।¹⁷ तात्पर्य यह है कि यदि हम कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि उन भावनाओं को जागरूक होकर अपने में विकसित करें जो कषायों का हनन करती हैं।

इस प्रसंग में यहाँ जैनदर्शन की तुलना योगदर्शन से की जा सकती है। जैनदर्शन के अनुसार कषायों पर—अर्थात् नकारात्मक आवेगों पर विजय प्राप्त करने के लिए हमें सृजनात्मक भावनाओं पर ध्यान देना चाहिए और उन्हें विकसित करना चाहिए। इस प्रकार यदि हम क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष जैसे चारित्रिक गुणों का विकास करेंगे तो क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ पर स्वतः विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसके ठीक विपरीत योगदर्शन चारित्रिक गुणों के विकास के लिए उनकी प्रतिपक्ष भावनाओं पर ध्यान देने के लिए कहता है जो मनुष्य के लिए दुःख का कारण बनती है। यदि हम उन प्रतिपक्षी भावनाओं पर दुःख के कारणों के रूप में ध्यान दें तो हम स्वतः चारित्रिक गुणों का विकास कर सकते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि चारित्रिक गुणों के विकास के लिए दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ अपनाई गई हैं। जैनदर्शन जबकि एक स्वीकारात्मक दृष्टिकोण को अपना कर सृजनात्मक भावनाओं के विकास पर बल देता है ताकि कषायों का हनन किया जा सके, योगदर्शन प्रतिपक्षी भावनाओं पर ध्यान देने के लिए प्रेरित करता है ताकि उनके दुःखद परिणामों को जानकर हम उनसे बच सकें और सद्गुणों का विकास कर सकें।

इसलिए भाव-शुद्धि आवश्यक है, क्योंकि मान, माया, लोभ और क्रोध की उद्दाम भावनाएँ द्वन्द्व की स्थिति को न केवल प्रश्रय देती हैं बल्कि बद से बदतर भी बनाती हैं। स्वयं को इन कषायों से मुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने में इनके विपरीत मधुर भावों को—मार्दव, आर्जव, संतोष और क्षमा को विकसित करें। मार्दव का अर्थ है कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का व्यक्ति तनिक भी गर्व न करे। अपने अभिमान में मनुष्य दूसरों को अपमानित करता है और द्वन्द्व-स्थिति में दूसरे पक्ष को अपमानित करना बड़ा आसान होता है। इससे बचने के लिए मार्दव का विकास होना चाहिए। आर्जव कुटिल

विचार, कुटिल वचन से अपने को बचाए रखना है।¹⁹ संतोष लोभ को समाप्त करता है। जब संतोष होगा तो लोभ के लिए कोई स्थान रहेगा ही नहीं। क्षमा वस्तुतः मैत्री भाव का विकास है। यदि आपमें मैत्री भाव नहीं है तो आप क्षमा भी नहीं कर सकते। भले ही दूसरे का व्यवहार आपके दृष्टिकोण से कितना ही गलत क्यों न हो, किन्तु यदि आप उससे मैत्री बनाए रखते हैं और उसे क्षमा दे सकते हैं तो देर-सबेर वह आपकी दृष्टि का भी सम्मान किए बगैर नहीं रह सकता। अतः द्वन्द के निवारण की दिशा में यह आवश्यक है कि हम अपने कषायों की भाव-शुद्धि करें।

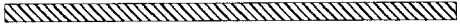
सामायिक—द्वन्द्व निवारण उपायों में, जिसे जैन दर्शन में 'सामायिक' कहा गया है, एक बहुत महत्वपूर्ण प्रविधि है। जहाँ द्वन्द्व है वहाँ विरोध है। द्वन्द्व से यदि विरोध की भावना को निरस्त कर दिया जाए तो द्वन्द्व, द्वन्द्व नहीं रहता। इसके लिए आवश्यक है कि हम समत्व की भावना का विकास करें।

जैनदर्शन में 'समत्व' को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। 'श्रमण वही है जिसमें समत्व की भावना हो—'समयाए समणो होई'²⁰।²¹ समता, मध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र्य, धर्म और स्वभाव आराधना—ये सभी एकार्थक शब्द हैं।²² आत्मा को आत्मा के रूप में जानते हुए जो राग-द्वेष में समभाव रखता है, वही श्रमण पूज्य माना गया है।²³ वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है।²⁴

समत्व-प्राप्ति के लिए ध्यान रूप होना आवश्यक है। सामायिक में समत्व की उपलब्धि के लिए ध्यान पर बल दिया गया है। तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि चित्त को एकाग्र करके उसे विचलित न होने देना ही ध्यान है।²⁵ लेकिन चित्त को शुभ और अशुभ दोनों पर ही केन्द्रित किया जा सकता है। प्रशस्त ध्यान वह ध्यान है जो समत्व के शुभ-परिणाम हेतु होता है। प्रशस्त ध्यान की साधना समत्व-लाभ के लिए होती है।

क्या समत्व साधना (सामायिक) एक आध्यात्मिक साधना मात्र है अथवा इसका कोई व्यवहार पक्ष नहीं है? डॉ. सागरमल जैन कहते हैं कि समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है। यह जीवन विविध पक्षों में एक ऐसा सन्तुलन है जिसमें न केवल चैतन्य एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं, शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी साधना में प्रयत्नशील हों।²⁶

उपनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
पोस्ट-बी.एच.यू., वाराणसी
(उत्तर प्रदेश) २२१ ००५

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  51

सन्दर्भ—

१. एस चंद एण्ड कं., नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, १६६३, देखें, शब्द कंप्लिक्ट, पृ. १२८
२. अहमदाबाद/वाराणसी से प्रकाशित, १६८७ देखें, शब्द 'दंद' पृ. ४४८.
३. हिंदी विश्व कोश, खंड ६, 'द्वन्द्व-युद्ध' पृ. १४३-१४४.
४. समण-सुत्तं, गाथा, ३४७
५. आयारो, लाडनूं, सं. २०३१, पृ. ८०-८१, गाथा, ४९-५१
६. वही, पृष्ठ १२२, गाथा १
७. वही, पृष्ठ १२४, गाथा ८
८. समणसुत्तं, गाथा-१३५-१३६
९. वही, गाथा, १२३-१२७
१०. समणसुत्तं, गाथा, २५७
११. कैट्स और लॉयर : कंप्लिक्ट रेसोलुशन, सेज, कैलीफोर्निया, १६६३, पृ. १०
१२. वही, पृ. २९
१३. आयारो (पूर्वोक्त) पृ. १२२, गाथा, १.
१४. यहाँ ध्यातव्य है कि आयारो (पूर्वोक्त) के तीसरे अध्ययन का शीर्षक 'शीतोष्णीय' है जो स्पष्ट ही सभी प्रकार के द्वन्द्व की ओर संकेत करता है।
१५. समणसुत्तं, गाथा-२८२
१६. वही, गाथा, १३५
१७. वही, गाथा, १३६
१८. वही, गाथा, ८८
१९. वही, गाथा, ९१
२०. वही, गाथा, ३४२
२१. वही, गाथा, २७५
२२. वही, गाथा, ३४२
२३. वही, गाथा, ३४७
२४. तत्त्वानुशासन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, श्लोक, ५६
२५. डॉ. सागरमल जैन-बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, जयपुर, १९८२ पृ. १६-१७

आचार्य विद्यानन्दकृत नैगमनय तथा नैगमाभास के भेद—प्रभेद

✍ कुमार अनेकान्त जैन

जैन परम्परा में प्रमाण के विवेचन से भी पहले नयों का विवेचन हुआ। अतः अनुयोग द्वार¹ तथा षट्खण्डागम² जैसे आगमों के प्राचीन अंशों में नयों की ही चर्चा अधिक विस्तार से उपलब्ध होती है। दार्शनिक जगत में सात नय प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रथम नय 'नैगम' है।³ कषाय प्राभृत के टीकाकार वीरसेनाचार्य ने नैगमनय के तीन भेद किये। आचार्य विद्यानन्द ने इन्हीं तीन भेदों का विस्तार करते हुए नैगमनय के कुल नौ भेद कर दिये। इतना ही नहीं, उन्होंने इन भेदों के आभासों का भी परिचय दिया जो कि उनका जैन न्याय शास्त्र को मौलिक योगदान माना जायेगा। प्रस्तुत निबंध में हम इसी योगदान की चर्चा आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रंथ के आधार पर करेंगे ताकि नय पर विचार करने वाले विद्वानों का ध्यान नैगम नय के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर भी जा सके।

नैगमनय भेद—प्रभेद

वीरसेनाचार्य (विक्रम की 8वीं शती) ने जयधवला में नैगम नय के द्रव्य नैगम, पर्याय नैगम और द्रव्य पर्याय नैगम ये तीन भेद माने हैं।⁴ आचार्य विद्यानन्द (वि. 9वीं) भी इन तीन भेदों को स्वीकार करते हैं किन्तु वे इन तीनों का भी क्रमशः प्रभेद करते हुए कहते हैं कि द्रव्य नैगम दो प्रकार का है, पर्याय नैगम तीन प्रकार का है और तीसरा द्रव्य पर्याय नैगम चार प्रकार का है।⁵ तदनन्तर वे इन तीनों के भी

(2) **व्यञ्जन पर्याय नैगम** — कोई नैगम नय एक धर्मी में गौणता और प्रधानता से दो व्यञ्जन पर्यायों को विषय करने वाला व्यञ्जन पर्याय नैगम है। जैसे आत्मा में सच्चैतन्य है। यहां 'सत्' तो चैतन्य का विशेषण होने से गौण रूप से नैगम नय का विषय है। वर्तमान क्षणवर्ती सूक्ष्म पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं और स्थूल पर्याय को जो वचन गोचर हो व्यञ्जन पर्याय कहते हैं।⁹

(3) **अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगम नय**— एक धर्मी में अर्थ व व्यञ्जन दोनों पर्यायों को मुख्य गौण रूप से विषय करने वाला अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगम नय है। जैसे- धार्मिक पुरुष में सुख पूर्वक जीवन पाया जाता है।¹⁰ इस दृष्टान्त में सुख अर्थ पर्याय है और जीवन व्यञ्जन पर्याय है। सुख विशेषण है और जीवन विशेष्य है। विशेषण गौण होता है और विशेष्य प्रधान होता है।¹¹

द्रव्य नैगम नय — द्रव्य नैगम नय के बारे में तथा उनके भेदों के बारे में बतलाते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि शुद्ध द्रव्य या अशुद्ध द्रव्य को विषय करने वाले संग्रह व व्यवहार नय से उत्पन्न होने वाले अभिप्राय ही क्रमशः शुद्ध द्रव्य नैगमनय और अशुद्ध द्रव्य नैगम नय है।¹²


(1) **शुद्ध द्रव्य नैगम नय**— समस्त वस्तु सत् द्रव्य हैं, क्योंकि सभी वस्तुओं में सत्त्व और द्रव्यत्व के अन्वय का निश्चय है। इस प्रकार से जानने वाला शुद्ध द्रव्य नैगम है और सत्त्व तथा द्रव्यत्व के सर्वथा भेद को कथन करना दुर्नय है।¹³

यहां संग्रह नय का विषय शुद्ध द्रव्य है और व्यवहार नय का अशुद्ध द्रव्य है। नैगम धर्म और धर्मी में से एक को गौण, एक को मुख्य करके विषय करता है, यह पहले लिख आये हैं। समस्त वस्तु सत् द्रव्य रूप है। यह शुद्ध द्रव्य नैगम नय का उदाहरण है। इस उदाहरण में द्रव्यपना मुख्य है, क्योंकि वह विशेष्य है और उसका विशेषण सत्त्व गौण है।¹⁴

(2) **अशुद्ध द्रव्य नैगम नय**— जो नय 'पर्याय वाला द्रव्य' है या 'गुणवान द्रव्य' है ऐसा निर्णय करता है वह व्यवहार नय से उत्पन्न हुआ अशुद्ध द्रव्य नैगम है।¹⁵ संग्रह नय के विषय में भेद-प्रभेद करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अतः द्रव्य पर्याय वाला है या गुणवाला है, यह उदाहरण अशुद्ध द्रव्य नैगम नय का है। चूंकि भेद ग्राही होने से व्यवहार नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है, अतः नैगम के इस भेद को व्यवहारजन्य बतलाया है।¹⁶

द्रव्य पर्याय नैगम—

(1) **शुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम**— शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम नय है। जैसे कि संसार में सुख पदार्थ शुद्ध सत् स्वरूप होता हुआ क्षण मात्र में नष्ट हो जाता है यहां उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  55

सत्पना तो शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थ पर्याय है। वहां विशेषण होने के कारण सत् तो गौण है और विशेष्य होने के कारण सुख मुख्य है।¹⁷

(2) अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम नय— अशुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम नय है। जैसे कि संसारी जीव क्षण मात्र को सुखी है। यहां सुख रूप अर्थ पर्याय तो विशेषण होने के कारण गौण है और संसारी जीव रूप अशुद्ध द्रव्य विशेष्य होने के कारण मुख्य है।¹⁸

(3) शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगमनय— शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक व्यञ्जन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगम नय है। जैसे कि सत् सामान्य चित् स्वरूप है। यहां सत् सामान्य रूप शुद्ध द्रव्य तो विशेषण होने के कारण गौण है और उसकी चैतन्यपने रूप व्यञ्जन पर्याय विशेष्य होने के कारण मुख्य है।¹⁹

(4) अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगम नय— अशुद्ध द्रव्य और उसकी किसी एक व्यञ्जन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगम नय है। जैसे 'मनुष्य गुणी है' ऐसा कहना। यहां 'मनुष्य' रूप अशुद्ध द्रव्य तो विशेष्य होने के कारण मुख्य है और 'गुणी' रूप व्यञ्जन पर्याय विशेषण होने के कारण गौण है।²⁰

इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने नैगमनय के नौ भेद किये हैं।²¹

नैगमाभास का स्वरूप

अकलंकदेव (वि. 7वीं शती) के अनुसार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योंकि गुण गुणी से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इसमें कथञ्चित्तादात्म्य संबंध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान तथा सामान्य-विशेष में भी कथञ्चित्तादात्म्य ही संबंध है। यदि गुण आदि गुणी आदि से बिल्कुल भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हों, तो उनमें नियत संबंध न होने के कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयव यदि अवयवों से सर्वथा पृथक् हैं, तो उसकी अपने अवयवों में वृत्ति मानने में अनेकों दूषण आते हैं। यथा-अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में यदि पूर्णरूप से रहता है, तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतंत्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एक देश से रहेगा, तो जितने अवयव हैं अवयवी के उतने ही देश मानने होंगे, उन देशों में भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देश से' इत्यादि विकल्प होने से अनवस्था दूषण आता है।²²

जो स्वयं ज्ञान रूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है? अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।²³

सांख्य का ज्ञान सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्य का

कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सुख और ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इन ज्ञान सुखादि रूप व्यक्त कार्य की दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारण रूप अव्यक्त स्वरूप से अदृश्य है। पुरुष चेतन अपरिणामी कूटस्थ नित्य है। चैतन्य बुद्धि से भिन्न है, अतः बुद्धि चेतन पुरुष का धर्म नहीं है। इस तरह सांख्य का ज्ञान और आत्मा में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योंकि चैतन्य और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञानादि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादि को सर्वथा अनित्य और पुरुष को सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुष में प्रकृति संसर्ग से भी बंध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते, अतः पुरुष को परिणामी नित्य ही मानना होगा तभी उसमें बन्ध मोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।¹⁴

नैगमाभास के भेद प्रभेद

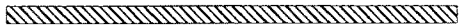
आचार्य विद्यानन्द ने नैगमाभास के सामान्य लक्षणवत् धर्म धर्मी आदि में सर्वथा भेद दर्शाकर पर्याय नैगम व द्रव्य नैगम आदि आभासों का निरूपण निम्न प्रकार से किया है।

(1) **अर्थ पर्याय नैगमाभास**— शरीरधारी आत्मा में सुख व संवेदन का सर्वथा भेद दर्शाकर नानापने का अभिप्राय रखना अर्थ पर्याय नैगमाभास है। क्योंकि द्रव्य के गुणों का परस्पर में अथवा अपने आश्रयभूत द्रव्य के साथ ऐसा भेद प्रतीति गोचर नहीं है।¹⁵

(2) **व्यञ्जन पर्याय नैगमाभास**— सत्ता और चैतन्य का परस्पर में अत्यन्त भेद कहना अथवा अपने अधिकरण हो रहे आत्मा से भी सत्ता और चैतन्य का अत्यन्त भेद कहना व्यञ्जन पर्याय नैगमाभास है, क्योंकि गुणों का परस्पर में और अपने आश्रय के साथ कथंचित् अभेद वर्त रहा है। अतः ऐसी दशा में सर्वथा कथन करते रहने से नैयायिक को विरोध दोष प्राप्त होता है।¹⁶

(3) **अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमाभास**— जो सुख और जीवन को सर्वथा भिन्न अभिमान पूर्वक मान रहा है अथवा सुख और जीवन की आत्मा से भिन्न कल्पना करता है वह अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगम का आभास है। आयु कर्म का उदय होने पर विवक्षित पर्याय में अनेक समय तक प्राणों का धारण करना जीवन माना गया है और आत्मा के अनुजीवी गुण हो रहे सुख का साता वेदनीय कर्म के उदय होने पर विभाव परिणति हो जाना यहां लौकिक सुख लिया गया है। कभी कभी धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन हो जाने पर अतीन्द्रिय आत्मीय सुख का भी अनुभव हो जाता है। वह स्वाभाविक सुख में परिगणित किया गया है।¹⁷

(4) **शुद्ध द्रव्य नैगमाभास**— समस्त वस्तु सत् द्रव्य हैं क्योंकि सभी वस्तुओं में सत्त्व और द्रव्यत्व के अन्वय का निश्चय है। इस प्रकार से जानने वाला शुद्ध द्रव्य नैगमनय है और सत्त्व

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  57

द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगमाभास है तथा मनुष्य तथा गुणवानपने में सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद मानना अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगमाभास हैं।²

आचार्य विद्यानंद के परवर्ती देवसेनाचार्य³³ (वि. 990 शती) और माइल्लधवल³⁴ (वि. 11वीं शती) ने भी नैगमनय के तीन भेदों की चर्चा की है तथाऽपि नैगम और नैगमाभास के भेद प्रभेदों की चर्चा जितने विस्तार से आचार्य विद्यानन्द में उत्पन्न होती है उतनी कहीं अन्यत्र नहीं। नैगमनय और नैगमाभास के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विद्यानंद की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म थी और उनका यह विवेचन नितान्त मौलिक है जिसका स्पर्श उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य नहीं कर पाये।

सन्दर्भ—

1. अणुओगदाराई में पहला प्रकरण—सूत्र-14, ग्यारहवें प्रकरण में सूत्र-554 से 557, संपादक—आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, प्रथम संस्करण-1996.
2. षट्खण्डागम में वेदनाखंड तथा वर्गणा खंड, संपादक—ब्र. सुमतिबाई शहा, प्रकाशक—श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फट्टण (सातारा), 1965
3. से किं तं नए? सत्त मूलनया पण्णत्ता, तं जहा—नेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सदे समभिरूढे एवंभूए—अणुओगदाराई, तेरहवां प्रकरण, सूत्र 715, पृ. 376
अपि च, णेगम-ववहार-संगहा सव्वाओ। उज्जुसुदो ट्ठवणं णेच्छदि। सद्दणओ णामवेयणं भाववेयणं च इच्छदि।
—षट्खण्डागम—, वेदनाखंड, वेदना नयविभाषणता सूत्र, 2,3,4, पृष्ठ-537.
4. “द्रव्यार्थिकनैगमः पर्यायार्थिकनैगमः द्रव्यपर्यायार्थिकनैगमश्चेत्येवं त्रयो नैगमः।” -वीरसेनाचार्य, जयधवला भाग-1, प्रकरण-202, पृ., 221-22
5. “तत्र पर्यायगस्त्रेधा नैगमो द्रव्यगो द्विधा। द्रव्यपर्यायगः प्रोक्तश्चतुर्भेदो ध्रुवं ध्रुवैः॥”
—आचार्य विद्यानंद कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्लोक-27, पृ. 234
संपादक व प्रकाशक—पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणभवन, सोलापुर, 1956
6. “त्रिविधस्तावनैगमः। पर्यायनैगमः, द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा। अर्थपर्यायनैगमो व्यञ्जनपर्यायनैगमोऽर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमश्च इति। द्वितीयो द्विधा। शुद्ध द्रव्यनैगम, अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चतुर्था, शुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगमः, शुद्धद्रव्य व्यञ्जनपर्यायनैगम, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमश्चेति, नवधा नैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः।”
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 239
7. अर्थपर्याययोस्तावद्गुणमुख्यस्वभावतः। कचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते॥
यथा प्रतिक्षणं ध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः। इति सत्तार्थ पर्यायो विशेषणतया गुणः।

संवेदनार्थं पर्यायो विशेष्यत्वेन मुख्यताम् । प्रतिगच्छन्भिप्रेतो नान्यथैवं वचोगतिः ॥

—त. श्लो.वार्तिक 28-30, पृ. 234

8. तुलनीय, नय विवरण, नयचक्र- परिशिष्ट-2, संपादन-अनुवाद- पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 241-242, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, सन् 1999
9. कश्चिद्व्यंजनपर्यायौ विषयीकुरुतेजसा । गुणप्रधानभावेन धर्मिण्येकत्र नैगमः ॥
सच्चैतन्यं नरीत्येवं सत्वस्य गुणभावतः । प्रधानभावतश्चापि चैतन्यस्याभिसिद्धितः ॥
—त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-32-33, पृ. 235
10. अर्थव्यंजनपर्यायौगोचरी कुरुते परः । धार्मिके सुखजीवित्वमित्येवमनुरोधतः ॥
त. श्लोक वार्तिक, श्लोक 35, पृ. 236.
11. तुलनीय, नयविवरण, पृ. 243.
12. शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रेति यो नयः । स तु नैगम एवेह संग्रहव्यवहारजः ॥
त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-37, पृ. 236.
13. सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात् ।
इत्येवमवगंतव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नयः ॥ त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-38, पृ. 236
14. नयविवरण, पृ. 243
15. यस्तु पर्यायवद् द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः ।
व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्य नैगमः ॥ त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-39, पृ. 237.
16. नयविवरण, पृ. 243
17. शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोस्ति.परो यथा । सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं संसारेस्मिन्नितीरणम् ॥
त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-41, पृ. 237.
18. क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः । विनिर्दिष्टोर्थपर्यायाशुद्धद्रव्यागनैगमः ॥
त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-43, पृ. 238
19. गोचरीकुरुते शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायौ । नैगमोन्यो यथा सच्चित्सामान्यमिति निर्णयः ॥
—त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-45, प्र. 238
20. 'विद्यते चा परोशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्यायौ । अर्थीकरोति यः सोत्र ना गुणीति निगद्यते ॥
—त. श्लोक वार्तिक, श्लोक-46, पृ. 239
21. 'नवधा नैगमः साभास उदाहृतः ॥ —त. श्लो. वार्तिक, पृ. 239
22. तुलनीय, भट्टकलंकदेव विरचित लघीयस्त्रय ग्रंथ पर संपादक पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य की प्रस्तावना, नयनिरूपण, पृ. 94-95, अकलंकग्रंथत्रयम्, प्रकाशक-सरस्वतीपुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, 1939 (पुनर्मुद्रण 1996)
अपि च, अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥
विवृति : स्वलक्षण भेदा भेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।

यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्पररूपणायां च आत्मा । तदर्थांतरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम्? गुणगुणिनाम् अवयवा । वयविनाम् क्रिया-कारकाणां जातितद्वातां च मिथोऽर्थांतरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् तद् एकमित्येवं न स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्तेत तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसंगात् किं वर्तेत?

—अकलंककृत लघीयस्त्रय, प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रः

(द्वितीय भाग), द्वितीये नय प्रवेश, पञ्चम नय परिच्छेद, पृ. 622-23

23. तुलनीय, लघीयस्त्रय, पं. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना पृ. 95-96
अपिच, “स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात्? नहि तथाऽपरिणतरय तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्व प्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत्; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति वर्तेत वा सामवायान्तराभावात् तदनवस्थानुषङ्गात् ।
—अकलंककृत लघीयस्त्रय । (न्यायकुमुदचन्द्र भाग-2) पृ. 629.
24. तुलनीय, लघीयस्त्रय पर पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की प्रस्तावना, पृ. 96.
अपि च, गुणगुण्यादीनाम् अन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमित्यलं प्रसङ्गेन । गुणानां वृत्तंचलं सत्त्वरजसतमसां सुखदुःख (खा) ज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलम् इत्येतदपि तादृगेव, तदर्थांतरताऽसिद्धेः । अति प्रसङ्गश्चैवं तदभेदे विरोधाभावात् । गुणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ।
—अकलंककृतलघीयस्त्रय (न्यायकुमुदचन्द्र भाग-2) पृ. 625.
25. ‘सर्वथा सुखसंवित्प्योर्नानात्वेभिमतः पुनः । स्वाश्रयाच्चार्थ पर्याय नैगमाभोऽप्रतीतितः ॥
—त. श्लो. वार्तिक, श्लोक-31, पृ. 235.
26. तयोरत्यंतभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि । ज्ञेयोव्यंजनपर्यायनैगमाभो विरोधतः ॥
वही, श्लोक-34, पृ. 235-36
27. भिन्ने तु सुखजीवित्वे योभिमन्येत सर्वथा । सोर्थव्यंजनपर्यायनैगमाभास एव नः ॥
वही, श्लोक-36, पृ. 236
28. सदद्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात् । इत्येवमवगंतव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नयः ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्लोक-38, पृ. 236
29. तद्भेदैकान्तवादस्तु तदाभासोऽनुमन्यते । तथोक्तेर्विहरन्तश्च प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥
—वही, श्लोक-40, पृ. 237.
30. सत्त्वं सुखार्थपर्यायाद्भिन्नमेवेति संमतिः । दुर्नीति स्वायत्सबाधत्वादिति नीति विदो विदुः ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, श्लोक 42, पृ. 238.
31. सुखजीवभिदोक्तिस्तु सर्वथा मानबाधिता । दुर्नीतिरेव बौद्धव्या शुद्धबौधैरसंशयात् ॥
वही, श्लोक-44, पृ. 238

32. विद्यते चापरोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययौ । अर्थीकरोति यः सोऽत्र ना गुणीति निगद्यते ॥
वही, श्लोक-46, पृ. 239
भिदाभिदाभिरत्यंतं प्रतीतेरपलापतः । पूर्ववन्नैगमाभासौ प्रत्येतव्यौ तयोरपि ॥
—वही, श्लोक-47, पृ. 239.
33. नैगमस्त्रेधाभूतभाविवर्तमानकाल भेदात् । —आलापपद्धति, सूत्र-64, पृ. 13
—संपादक - ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, प्रथम
संस्करण-1990
34. माइल्लधवल विरचित 'णयचक्को', सम्पादक—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, गाथा-205 से 207,
पृ. 111-112, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1999.

—कनिष्ठ शोध अध्येता

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341 306 (राज.)

संघर्ष निराकरण एवं मानवाधिकार

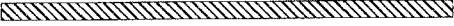
डॉ. बच्छराज दूगड़

मानवाधिकारों का सीधा सम्बन्ध संघर्ष से नहीं है लेकिन संघर्षों के दौरान मानव अधिकारों का अत्यधिक महत्त्व है। मानव अधिकारों से यहां हमारा अभिप्राय उन अधिकारों से है जो संयुक्त राष्ट्र और क्षेत्रीय संगठनों द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। इनमें इण्टरनेशनल बिल ऑफ राइट्स, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स (संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1966 में अंगीकृत), कन्वेंशन फॉर दी एलीमिनेशन ऑफ रेसियल डिस्क्रिमिनेशन (1965), द कन्वेंशन अगेन्स्ट स्लेवरी और कन्वेंशन अगेन्स्ट जेनोसाइड सम्मिलित हैं।

मानवाधिकार व्यवस्था की विषयवस्तु

अधिकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है— 1. स्वतंत्रता (freedom) और 2. मांग (Demand)। स्वतंत्रता का सम्बन्ध मानवीय-अखण्डता से है। स्वतंत्रता में स्वेच्छाचारी प्रतिबंधों या वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित करने से स्वतंत्रता, यातना, क्रूरता के अन्य तरीकों व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति तथा इससे भी अधिक एक व्यक्ति के जीवन को छीन लेने से स्वतंत्रता आदि सम्मिलित होते हैं। इनके साथ ही कार्य की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति व संघ बनाने की स्वतंत्रता भी इसमें निहित है। कार्य की स्वतंत्रता इस रूप से दी गई है जिससे दूसरों के अधिकारों का भी सम्मान हो सके।

मानव अधिकारों में जो मांगें सम्मिलित की गई हैं, वे कुछ भिन्न प्रकृति की हैं। इनमें राज्य सत्ता द्वारा व्यक्तियों या समूहों द्वारा की जाने वाली हिंसा से सुरक्षा की

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  63

मांग तथा व्यक्तियों या समूहों द्वारा राज्य सत्ता से कुछ निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति की गारण्टी की मांग सम्मिलित है। यद्यपि स्वतंत्रता का अधिकार राज्य शक्ति के क्रियाकलापों को सीमित करता है जबकि मांगों राज्य की सक्रियता चाहती हैं, जो मांगों की पूर्ति हेतु राज्य व्यवस्था को आवश्यक और पर्याप्त रूप से विकसित करे।

राज्य के कर्तव्यों का स्वरूप

व्यक्तियों और समूहों के लिए मानव अधिकार की स्वीकृति तत्सम्बन्धी कर्तव्यों की भी अपेक्षा रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार व्यवस्था में इस रूप में बाध्य होने वाले मूलभूत रूप से राज्य ही हैं। राज्य के कर्तव्यों को मूलतः तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—

सम्मान का कर्तव्य (Duty to Respect)

सुरक्षा का कर्तव्य (Duty to Protect)

मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का कर्तव्य (Duty to fulfill)

सम्मान के कर्तव्य निर्वहन के लिए राज्य तथा उसके अंगों व प्रतिनिधियों के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे कार्यों से बचें जो व्यक्ति की स्वतंत्रता व अखण्डता को बाधित करते हों। सुरक्षा के कर्तव्य निर्वहन के लिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि अखण्डता, कार्य की स्वतंत्रता या व्यक्ति के अन्य अधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए आवश्यक व कारगर उपाय सुनिश्चित करे। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन आवश्यकताओं की पूर्ति की संभावनाओं को सुनिश्चित करे जो मानवाधिकार व्यवस्था में निर्दिष्ट की गई हैं। जैसे कार्य का अधिकार, पर्याप्त जीवनस्तर का अधिकार, स्वास्थ्य-सेवा व शिक्षा का अधिकार आदि।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत राज्य की दोहरी भूमिका है। राज्य को अपने कार्यों के लिए कुछ सीमाएं स्वीकार करनी चाहिए। साथ ही मानव अधिकारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने के लिए वह बाध्य है। राज्य की इस दोहरी भूमिका को लेकर यद्यपि कुछ मतभेद हैं जिसके लिए निम्नांकित विमर्श का औचित्य है—

मानव अधिकार व्यवस्था में व्यक्तियों या समूहों के अधिकारों के साथ कुछ कर्तव्य भी हैं। इण्टरनेशनल डिक्लेरेसन की धारा 29 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपने समुदाय के प्रति दायित्व है जिसमें उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र व सम्पूर्ण विकास संभव है। यद्यपि धारा 29 एक व्यक्ति के कर्तव्यों की दृष्टि से अनिश्चित सी है। भेदभाव की रोकथाम एवं अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र के एक उप आयोग ने अपनी विशेष रिपोर्ट

में व्यापक अध्ययन के पश्चात् निम्नांकित कर्तव्यों को सूचीबद्ध किया है—शांति और सुरक्षा के सम्मान का कर्तव्य, युद्ध के प्रचार से बचने का कर्तव्य, राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक घृणा फैलाने से बचने का कर्तव्य, अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी कानून को स्वीकार करने का कर्तव्य तथा मानवाधिकार और मूलभूत स्वतंत्रताओं को उन्नत करने एवं तदनु रूप आचरण करने का कर्तव्य।

घरेलू कानून के अन्तर्गत एक राज्य नागरिकों के लिए कर्तव्यों को लागू करने के अधिकार रखता है। लेकिन प्रभावी किये जाने वाले कर्तव्यों की एक सीमा है जैसा कि धारा 29 के पैरा 2 में कहा गया है—अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का उपयोग करते समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ ऐसी सीमाएं होंगी जो दूसरों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुरक्षा एवं प्रजातांत्रिक समाज में नैतिकता, व्यवस्था और सामान्य कल्याण की आवश्यकता पूर्ति हेतु कानून द्वारा निर्धारित की जाएगी।

संघर्षों के दौरान मानवाधिकारों का प्रयोग

एक राज्य खुले संघर्षों के दौरान मानवाधिकारों के सम्मान, संरक्षण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाध्य है। उपद्रव, अपगमन के लिए युद्ध (A war of secession) या क्रांति के समय भी राज्य मानवाधिकारों की बहाली के लिए बाध्य है।

सरकारें प्रायः यह तर्क प्रस्तुत करती हैं कि प्रतिपक्षी आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हैं, इसलिए सरकार द्वारा किये जाने वाले वे कार्य भी उचित हैं जो अन्य स्थितियों में गैर कानूनी होते हैं। मानवाधिकार इतने व्यापक अपवाद नहीं मानता। यद्यपि आपातकाल के समय जब राष्ट्र के अस्तित्व को खतरा हो तो कुछ अधिकार अस्थायी रूप से सीमित किये जा सकते हैं।* किन्तु कुछ अधिकार किसी भी परिस्थिति में सीमित नहीं किये जा सकते। जैसे जीने का अधिकार, यातना व दुर्व्यवहारों से मुक्ति का अधिकार, गुलामी से मुक्ति का अधिकार, कानून के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यक्ति के रूप में पहचान का अधिकार, विचार, संज्ञान और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, कानून के अनुसार कार्य करने के सिद्धान्त का अधिकार आदि। राज्य को सदैव इन अधिकारों का सम्मान करना चाहिए तथा दूसरे जो इन अधिकारों का हनन करते हैं उनको रोकने का कार्य भी राज्य को करना चाहिए।

पूछताछ के समय फांसी, नजरबंदी और दुर्व्यवहार किसी भी तरह की सभी परिस्थितियों में वर्जित है। यद्यपि वहां साक्ष्य की समस्या है। सरकारें प्रायः इस बात से इंकार कर देती हैं कि ये कार्य जिनके द्वारा किये गये हैं वे उनके प्रतिनिधि हैं। अगर वे सरकार के

* See Article 4 of the International Covenant on Civil & Political Rights.

प्रतिनिधि नहीं है तो सरकार मानव अधिकारों के हनन के लिए तब तक उत्तरदायी नहीं है जब तक कि उन्होंने इस प्रकार के कार्य करने वाले समूहों को रोकने में लापरवाही न बरती हो।

आपातकाल के समय अधिकारों को सीमित करने का अधिकार कई अन्य प्रकार से भी सीमित है। प्रथमतः यह तभी किया जा सकता है जब राष्ट्र के अस्तित्व पर गंभीर संकट हो। इस तरह का संकट, जिसके कारण अधिकार सीमित किये जाते हैं, स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए तथा संकटकाल में उठाये गये कदम भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने चाहिए अन्यथा यह मानवाधिकारों का हनन ही होगा।

द्वितीय, समानता के सिद्धान्त का सम्मान होना चाहिए। यदि समानता के सिद्धान्त का कठोरता से पालन नहीं किया गया तो व्यापक दमन अनावश्यक अवरोध को जन्म देगा।

तृतीय, सम्पूर्ण आपातकाल में भेदभाव रहित व्यवहार के सिद्धान्त का भी सम्मान होना चाहिए। अधिकारों में कमी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भेद-भावपूर्ण न हो। यदि सरकार उग्र कथन करने से रोकती है जो उन सबके विरुद्ध कार्यवाही अपेक्षित है जो ऐसा करते हैं, भले ही वे सरकार के पक्ष के लोग हों या अन्य पक्ष के।

चतुर्थ, अधिकारों में कमी तथा ऐसे सभी प्रतिबंध जो इसके अन्तर्गत उठाये गये हैं मात्र सामान्य स्थिति की बहाली तक ही सीमित होने चाहिए तथा मानव अधिकारों के सम्मान हेतु इन्हें जितना शीघ्र संभव हो समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

मानवाधिकार कानून संग्राम की स्थितियों में सीधे रूप से व्यवहार नहीं करता। ऐसी स्थिति में सामान्य प्रावधान व्यवहार्य होते हैं। जैसे राज्य जीवन के अधिकार के सम्मान तथा क्रूर व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति के लिए बाध्य है। यहां यह समस्या आती है, जब सत्ता को ही चुनौती दे दी जाती है (जैसे राजविद्रोह या सैनिक हस्तक्षेप) तब ये प्रावधान कैसे व्यवहार्य होंगे?

नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तरराष्ट्रीय समझौते की धारा 6 जो जीवन के अधिकार से सम्बन्धित है, इस मुद्दे पर मौन है। मानवाधिकारों पर यूरोपियन कन्वेंशन की धारा 2 के अनुसार जीवन की हानि उस समय विचारणीय नहीं है जब यह अत्यावश्यक शक्ति के प्रयोग के कारण हुई हो। जैसे उपद्रव या राजद्रोह के दमन के लिए की जा रही कार्यवाही।

निःसन्देह मानव अधिकार कानून के समक्ष एक गम्भीर समस्या है—किन परिस्थितियों में ऐसी शक्ति का प्रयोग आवश्यक है? अहिंसक प्रदर्शन और दंगे के बीच विभाजक रेखा क्या है? यहां तक कि दंगे में भी किसी को मारने का अधिकार नहीं है। यह कब अनिवार्य

है—इसके लिए अभी भी कोई स्पष्ट मानदण्ड नहीं है? यद्यपि स्वैच्छिक रूप से नागरिकों के विरुद्ध सैनिक या पुलिस कार्यवाही, सरकार अथवा इसके एजेण्टों द्वारा आतंकवादी कार्यवाही तथा सामूहिक दण्ड आदि सदैव त्याज्य हैं। पर उन स्थितियों के लिए अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा है, जो सामूहिक यातना व जातीय घृणा को बढ़ाती हैं।

सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्षों में मानवाधिकार की आवश्यकता

उपर्युक्त सभी विवशताएं एवं सीमाएं संघर्षों के दौरान राज्य पर लागू होती हैं, भले ही वे सामाजिक संघर्ष हों या नृवंशीय। लेकिन सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों के समय कुछ अतिरिक्त बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। जो समाधान मानवाधिकार कानून द्वारा सुझाये गये हैं उनकी पालना आवश्यक है। सामाजिक संघर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के अनुसार—पर्याप्त जीवनस्तर जिसमें भोजन व आवास सम्मिलित हैं, कार्य का अधिकार, शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार आदि संरक्षित रहने चाहिए। संघर्ष के परिणामस्वरूप प्रभुत्व वाला समूह यदि दूसरे समूह का शोषण करता है तथा उनके सामाजिक अधिकार छीने जाते हैं तो मानवाधिकार कानून को चाहिए कि वह ऐसी परिस्थितियों को सुधारे।

राजनैतिक संघर्षों के समय भी यदि प्रभुत्व वाला समूह दूसरे समूह के लोगों को राज्य के राजनैतिक अंग के रूप में प्रवेश से इन्कार करता है तो ऐसी स्थितियों को भी ठीक करना मानवाधिकार कानून का कार्य है। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन की धारा 21 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सरकार में प्रत्यक्ष रूप से अथवा उनके द्वारा चयनित प्रतिनिधियों के रूप में हिस्सा लेने का अधिकार है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सार्वजनिक सेवाओं में प्रवेश का अधिकार है। यही धारा यह भी स्पष्ट करती है कि लोगों की ईच्छा ही सरकार की सत्ता का आधार होगी।

वंशीय व जातीय संघर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून का महत्त्व

संघर्षों के दौरान मूलभूत मानव अधिकार निरन्तर लागू रहने के प्रावधान हैं किन्तु वंशीय व जातीय संघर्षों के सम्बन्ध में कुछ अन्य मुद्दे व समस्याएं उभरकर सामने आती रही हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून में भेद-भाव को पूर्णतः समाप्त किये जाने का प्रावधान है किन्तु वंशीय व जातीय भेदभाव पर आधारित संघर्ष पूर्ण रूपेण समाप्त हो; मानवाधिकार कानून द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार है। इस अधिकार को इण्टरनेशनल कोवीनेंट ऑन इकोनोमिक, सोशल एण्ड कल्चरल राइट्स तथा इण्टरनेशनल कन्वेंशन ऑन सिविल एण्ड पॉलिटिकल राइट्स (जिन्हें संयुक्त राष्ट्र द्वारा तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000

1966 मे स्वीकृति प्रदान की गई हैं) द्वारा स्वीकृत किया गया है इस अधिकार के संदर्भ में दो मुद्दे उभरकर सामने आते रहे हैं—

1. कौन व्यक्ति आत्मनिर्णय के अधिकार के अधिकारी हैं?
2. इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

पहले मुद्दे के सम्बन्ध में धारा -1 के अनुसार सभी लोगों को यह अधिकार प्राप्त है पर एक अन्तर अवश्य है कि कुछ राष्ट्रों के लोग इस अधिकार का उपयोग पहले से कर रहे हैं जबकि कुछ राष्ट्रों के लोगों को यह अधिकार अभी भी मिलना है। बहुराष्ट्रीय राज्य में एक देश आत्मनिर्णय का अधिकार रखता है बशर्ते वह उस राज्य में एक अलग राष्ट्र के रूप में संवैधानिक पहचान रखता हो। वे लोग जिन्होंने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की हो या जिनकी स्वतंत्र राजनैतिक अस्मिता हो, लेकिन उन्हें बिना उनकी स्वतंत्र सहमति के किसी अन्य राज्य में समाहित कर दिया गया हो तो उनका आत्मनिर्णय का अधिकार अवरूद्ध हो जाता है। इस तरह की सीमाओं पर अन्तरराष्ट्रीय कानून का ध्यान आकर्षित कर सहमति प्राप्त करना आवश्यक है।

आत्मनिर्णय से सम्बन्धित दूसरा मुद्दा अधिकारों की विषयवस्तु से सम्बन्धित है। यह अब सुस्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि इस अधिकार के दो पक्ष हैं—बाह्य व आन्तरिक। बाह्य आत्मनिर्णय बाह्य (विदेशी) नियंत्रण (जैसे उपनिवेश, जातिवाद) से मुक्ति का अधिकार है जबकि आन्तरिक आत्मनिर्णय इससे भिन्न है। यह राज्य की सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक नीतियों के निर्धारण या परिवर्तन के लिए सरकार के स्वतंत्र चयन एवं परिवर्तन से सम्बन्धित अधिकार है जो सभी लोगों को प्राप्त है। धारा 1 के अनुसार लोग अपनी-अपनी राजनैतिक व्यवस्था निर्धारण करने के लिए स्वतंत्र हैं, अतएव आन्तरिक आत्मनिर्णय के लिए स्वतंत्र, खुले व स्वच्छ प्रजातंत्र की आवश्यकता है।

अल्पसंख्यकों के अधिकार अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून का शायद सबसे कमजोर पक्ष है। संयुक्त राष्ट्र गतिविधियों का प्रारम्भ से ही यह लक्ष्य रहा है कि अल्पसंख्यकों के संरक्षण के नियम बनाये जायें। इस सन्दर्भ में इण्टरनेशनल कोवीनेट ऑन सिविल एण्ड पोलिटिकल राइट की धारा 27 तक ही हम सीमित रहे हैं जिसमें यह कहा गया है कि 'जिन राज्यों में वंश, धर्म और भाषाई अल्पसंख्यक रहते हैं उन्हें अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी भाषा के प्रयोग से रोका नहीं जाएगा'। धारा 27 की कई प्रकार की व्याख्याएं की जाती रही हैं। कुछ विद्वान् संस्कृति में भौतिक के साथ-साथ आध्यात्मिक पक्ष का समावेश किये जाने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि संस्कृति को बनाये रखने के लिए उन

प्राकृतिक व अन्य संसाधनों पर नियंत्रण की अपेक्षा है जिनके आधार पर संस्कृति का निर्माण हुआ है। वे लोग जो जंगलों में रहते हैं, जिन्होंने अपने जीवन और शिकार के लिए जंगल के उपयोग पर आधारित संस्कृति का विकास किया है, उन्हें अपनी कला, नृत्य एवं रीति-रिवाजों को बनाये रखने का अधिकार है। वे वन और वनीय संसाधनों के नियंत्रण के अधिकारी भी सदैव बने रहने चाहिए अन्यथा उनकी संस्कृति नष्ट हो जाएगी। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि धारा 27 संस्कृति के केवल अभौतिक पक्ष की ही सुरक्षा करती है।

वंश और जाति संहार की घटनाएं भी व्यापक हैं। वंश संहार के परिणामस्वरूप एक नृवंश को उनकी अपनी भाषा बोलने से या उनके बच्चों को उस भाषा में शिक्षा ग्रहण करने से रोका जाता है। उन्हें लिखने के अधिकार तथा अपनी संस्कृति को बनाए रखने हेतु आवश्यक भौतिक स्थितियों से वंचित किया जाता है।

जाति संहार तो पराकाष्ठा है जिसमें एक देश, एक वंश, एक जाति या एक धार्मिक समुदाय का पूर्णतः या आंशिक संहार के लिए कार्य किया जाता है। जाति संहार को यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध माना गया है पर अभी भी इस पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित नहीं हो पाया है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मानवाधिकार कानून संघर्षों के निराकरण के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है, विशेषकर सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों के निराकरण के लिए। लेकिन मानवाधिकार की व्यवस्थाएं जातीय संघर्षों के लिए अभी भी कम सहायक हो पा रही हैं।

सह-आचार्य एवं अध्यक्ष
अहिंसा एवं शान्ति अध्ययन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

संदर्भित ग्रन्थ :

1. O.E. Waszlo & J.Y. Yoo, World Encyclopedia of Peace, Vol. I & II, Newyork Press, 1986
2. Nani A. Palkiwala, We the Nations, 1994
3. Ulrich Kapren : Human Rights in the Constitution of the Western World : Some Institutional Trends, 1989
4. UNESCO Year Book on Peace & Conflict Studies, 1986
5. K.P. Saksena, Human Rights, Institute for World Congress on Human Rights, New Delhi, 1995
6. Moses Moskowitz, Human Rights and World order, 1958
7. T.R. Subramanya, Human Rights in International Law, 1986.
8. Fred Twine, Citizenship & Social Rights, Sage Publications, New Delhi, 1994
9. Human Rights in India, The updated Amnesty International Report, 1993.

भारतीय वाङ्मय में पुरुषार्थ

✍ डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

भारतीय वाङ्मय में पुरुषार्थ एक महत्वपूर्ण शब्द है। सभी प्रस्थानों ने देश, काल और मान्यता के अनुरूप इस शब्द का विवेचन किया है। शब्दकल्पद्रुम¹ के अनुसार पुरुषस्य अर्थ पुरुषार्थ², पुरुषस्य प्रयोजनम् पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का अर्थ या पर प्रयोजन पुरुषार्थ है। वाचस्पत्यम् में भी पुरुष के इष्ट प्रयोजन को पुरुषार्थ कहा गया है। पुरुष के उद्योग का विषय। पुरुष का लक्ष्य, पुरुषकार, पौरुष, पुरुषपराक्रम, पुरुषत्व, पुरुष, व्यक्ति, सामर्थ्य, बल पुरुषस्थान, पुरुषक्रिया आदि पुरुषार्थ शब्द के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं।

परिभाषा : पुरुष के कर्तव्य विशेष या प्रयोजन विशेष को पुरुषार्थ कहते हैं। देश, काल एवं अवस्थानुरूप कर्तव्य विशेष का आचरण पुरुषार्थ शब्दाभिधेय है। अधिष्ठान (आधार) कर्ता, करण, चेष्टा और नियति (ईश्वर, भाग्य आदि) पंच घटक तत्त्वों के योग से हम कार्य करते हैं। मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता पूर्वक उपर्युक्त पांच तत्त्वों के योग से देश, काल, पात्रानुसारपूर्वक अभ्युदय एवं श्रेयस्-सिद्धि को ध्यान में रखकर विवेकपूर्वक जो कार्य किया जाये वह पुरुषार्थ है।³ मानवीय जीवन में बाह्य-निर्माण और आन्तरिक विकास दोनों काम्य होते हैं। दोनों को एक दूसरे का पूरक बनाते हुए सम्यग् रीति से आगे बढ़ते जाना पुरुषार्थ शब्द वाच्य है।⁴ जब कोई व्यक्ति श्रेष्ठ अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रयोजन की महनीयता एवं साधना की समीचीनता को ध्यान में रखकर ज्ञानपूर्वक अग्रसर होता है, वह आगे बढ़ने की क्रिया ही पुरुषार्थ है, जो पूर्णतया नैतिकता एवं चारित्रिक सबलता पर आधारित है।

मनुष्य का सर्वांगीण विकास भी पुरुषार्थ पर ही आधारित है। डॉ. जयशंकर मिश्र के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का संतुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का सही स्वरूप है।^१ दुख-परित्याग एवं सुख-प्राप्ति की अभिलाषा मानव मन में व्याप्त है। इसी कारण शरीर एवं मानसिक क्रियाओं में उसकी प्रवृत्ति होती है। आचार्य श्री तुलसी की दृष्टि में सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने का साधन पुरुषार्थ है। इन्हीं के शब्दों में तलहटी से शिखर तक जाने का उपाय है—पुरुषार्थ^१ जो व्यक्ति पुरुषार्थ को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं, उनके लिए मंजिल रास्ता बन जाता है, सफलता उनके द्वार पर दस्तक देती है।^१ पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति जीवन में हारी बाजी को भी विजय में बदल लेता है।^१

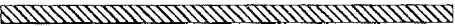
पाप एवं कालुष्य मल से दबी चेतना को परिष्कृत करने का श्रेष्ठ साधन है पुरुषार्थ। पाप और कालुष्य से दबी चेतना को स्वयं व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उबार सकता है।^१ अथक पुरुषार्थ के द्वारा विजातीय तत्वों से लोहा लेने वाला व्यक्ति धर्म को जीवंत बना सकता है।^{१०} गृहित संस्कार नष्ट होते हैं तथा आत्मा परमात्मा बन जाती है।^{११} पुरुषार्थ का मन्त्र जिसने पा लिया समझो कि वह देश और समाज में खुशहाली अवश्य ला देता है।^{१२} पुरुषार्थ वह मानवीय गुण है, जो देवों को भी पराभूत कर सकता है, इसलिए पुरुषार्थ को जीवन का सर्वोत्कृष्ट श्रेयपथ कहा गया है।^{१३}

वैदिक वाङ्मय में पुरुषार्थ — वैदिक ऋषि न केवल सर्वथा परित्याग को महत्व देता है, न केवल भोगवादी प्रवृत्ति को। बल्कि त्याग और भोग के मंजुल सामंजस्य का नाम है—वैदिक संस्कृति। ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मंत्र वैदिककालीन पुरुषार्थ को स्पष्ट कर देता है। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।^{१४} दार्शनिक दुःखवाद वैदिक आर्यों के समय में अस्तित्व में नहीं आया था। वहां भौतिक-सम्पन्नता के बीच से आध्यात्मिक समृद्धि को प्राप्त कर लेना पुरुषार्थ माना गया है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही भौतिक अभ्युदय की कामना की गयी है। त्यागपूर्वक भोग के साथ सत्य की प्राप्ति वैदिक ऋषियों की दृष्टि में प्रत्येक पुरुष का इष्ट प्रयोजन था। ईशावास्योपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में ऋषि 'सत्यधर्म' के साक्षात् दर्शन के लिए कामना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पुषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥^{१५}

वैदिक काल में दो शब्द ऋत^{१६} और सत्य^{१७} अत्यन्त प्रिय थे। ऋत और सत्य को पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा पूर्वक आत्मार्पित करना ही परम पुरुषार्थ है। भौतिक सिद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति-आत्मोपलब्धि के लिए ऋत और सत्य को श्रद्धापूर्वक जीवन के स्थूल और सूक्ष्म प्रत्येक स्पन्दन में प्रतिष्ठित करना वैदिक आर्यों की दृष्टि में पुरुषार्थ था।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  71

उपनिषद् और पुरुषार्थ—पुरुषार्थ की बेड़ी कर्म से जुड़ी हुई रहती है और कर्म का स्वरूप कर्ता की प्रवृत्ति पर निर्भर है। उपनिषद् काल में पुरुषार्थ पर नैतिकता का प्रभाव काफी रहा। जो वैसा आचरण करता है वह वैसा ही हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित है— **यथाकारी यथाचारी तथा भवति-साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन**¹⁸ जो कार्य विद्या और श्रद्धा के समीप बैठकर किया जाए वह अधिक फलप्रद होता है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदैव वीर्यवत्तरं भवति¹⁹

इस प्रकार उपनिषद् युग में विद्या और श्रद्धा से युक्त होकर अथवा उनके समीप बैठकर स्थिरचित्त में कर्मों का सम्पादन पुरुषार्थ कहा गया। वैदिक आर्यों ने जिस भौतिक समृद्धि पर बल दिया था, यहां आकर उसका स्थान आत्म विद्या ने ले लिया। नचिकेता-यमराज²⁰, याज्ञवल्क्य मैत्रेयी²¹ आदि अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिससे स्पष्ट होता है कि आत्मविद्या को ही उपनिषद् काल में परम पुरुषार्थ कहा गया। गौणतया सांसारिक अभ्युदय की कामना भी की जाती रही है।

उपनिषद्-काल में ही चतुर्विध पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। मनुस्मृतिकार ने एक स्थल पर तीन²² एवं अन्यत्र चार²³ पुरुषार्थों की स्वीकृति प्रदान की। पौराणिक युग में चारों पुरुषार्थों को समवेत रूप में अंगीकार किया गया। विष्णु पुराण एवं अग्नि-पुराण में पुरुष के इष्ट प्रयोजन को पुरुषार्थ कहकर इसकी संख्या चार-धर्म, अर्थ काम और मोक्ष बतायी गयी—धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः।²⁴

दार्शनिक आम्नाय और पुरुषार्थ—सभी दार्शनिक प्रस्थानों का प्रारम्भ दुःख विनिवृत्ति रूप प्रयोजन से ही होती है, इसलिए सभी ने शब्दान्तर मात्र से दुःख विमोचन एवं अनन्त सुख की लब्धि को पुरुष का परम प्रयोजन या पुरुषार्थ माना है। सांख्याचार्य त्रिविध आध्यात्मिक (शारीरिक-मानसिक), आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से पूर्ण (ऐकान्तिक) निर्वृत्ति को परम पुरुषार्थ मानते हैं। सांख्यसूत्र के अनुसार—

‘अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः’²⁵ अर्थात् त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही परम पुरुषार्थ है। रसेश्वर दर्शन में योग के अभ्यास द्वारा परम तत्व का साक्षात्कार कर लेना ही पुरुषार्थ माना गया है—

योगाभ्यास वशात्परत्वे दृष्टे पुरुषार्थं प्राप्तिर्भवति।²⁶ मीमांसा के अनुसार जिस कर्म से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है और जिसे करने की इच्छा स्वयं ही होती है, वह पुरुषार्थ है। आचार्य जैमिनी के शब्दों में—यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा अर्थ लक्षण विभक्तित्वात्²⁷ अद्वैतवेदान्त की दृष्टि में जिससे सभी दुःखों का शमन हो जाए तथा परमानन्द का ही एक

मात्र रस मिलता रहे, वही पुरुषार्थ है—निःशेषदुःखोपशमलक्षितं परमानन्दैकरसं च पुरुषार्थ शब्दस्यार्थः।¹²⁸ चार्वाक स्त्री आदि के स्पर्श से उत्पन्न सुख को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं—अंगनाद्यालिंगनादिजन्यं सुखमेव परम-पुरुषार्थः।¹²⁹ भक्तिवादी आचार्यों की दृष्टि में भक्ति ही परम पुरुषार्थ है। उनकी दृष्टि में प्रभुचरण की स्मृति एवं चरणरज की प्राप्ति की मनुष्य का परम प्रयोजन है :—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित् न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।

महत्तमान्तर्हृदायन्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेघ मे वरः।¹³⁰

मुझे तो उस मोक्ष पद की भी इच्छा नहीं है जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरणकमलों का मकरन्द नहीं है—जहां आपकी कीर्ति कथा सुनने का सुख नहीं मिलता। इसलिए मेरी यह प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये जिनसे मैं आपके लीला गुणों को सुनता रहूं।

जैनदर्शन और पुरुषार्थ—जैन दृष्टि में पुरुषार्थ की प्रधानता है, इसलिए लौकिक एवं अलौकिक कोई भी क्षेत्र पुरुषार्थ से रिक्त नहीं हो सकता है। यहां पर भी पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की स्वीकृति दी गयी है तथा यह भी कहा गया है कि अर्थ और काम में सभी जीव रुचिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अकल्याण—बन्धन को प्राप्त होते हैं तथा धर्म और मोक्ष को आश्रय लेने वाले कल्याण को प्राप्त करते हैं। इनमें से भी धर्म पुण्य रूप होने से मुख्यतः लौकिक कल्याण को देने वाला है, जो वस्तुतः बन्धन ही होता है। लेकिन मोक्ष पुरुषार्थ साक्षात्कल्याणप्रद है।

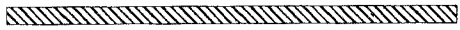
जैन आगम ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'पुरिसक्कार' शब्द संयम के प्रति पराक्रम पौरुषाभिमान, साधिताभिमतप्रयोजन, पुरुषक्रिया आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। संयम के प्रति चेष्टा करना पुरुषार्थ है—पौरुषं पुनरिह चेरिष्टतम्।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चतुर्विध पुरुषार्थ का उल्लेख जैन ग्रन्थों में मिलता है : धर्मार्थकामाश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।¹³¹

काम और अर्थ को अशुभ माना गया है। इहलोक और परलोक के दुःख मनुष्य को अर्थ पुरुषार्थ के कारण भोगने पड़ते हैं, इसलिए अर्थ अनर्थ का कारण है, मोक्ष प्राप्ति में अर्गला के समान है—

अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुतिपडिवंधो।¹³²

काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है। इससे आत्मा हल्की होती है, इसका सेवन करने से आत्मा दुर्गति में जाती है। यह पुरुषार्थ उत्पन्न होकर अल्पकाल में नष्ट हो जाता है—

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  73

काम कुडिमभवा लहुगत्त कारया अप्पकालियकामा ।³³

उवहो लोए दुक्खावहा य ण होति सुलहा ॥³³

यहां दो प्रकार के धर्म पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है—निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म। भोगादि की प्राप्ति के लिए जो धर्म आचरित किया जाता है वह पाप स्वरूप है और इसे जैन धर्म में अस्वीकृत किया गया है— यो भोगादिनिमित्तमेव सपुनः पापं बुधैर्मन्यते ।³⁴

धर्म पुण्य रूप होता है और पुण्य बंध होता है, इसलिए इसे भी हेय माना गया है। इस प्रकार शुभ-अशुभ से अतीत जो तीसरी भूमिका है, वहीं वास्तविक धर्म है जो मोक्षमार्ग में सहायक होने के कारण जैन दार्शनिकों को ग्राह्य है। मोक्ष पुरुषार्थ ही सर्वथा ग्राह्य है। जैसे सांख्याचार्यों ने आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप पुरुषार्थ को ग्राह्य एवं करणीय माना है उसी प्रकार जैन दार्शनिकों की दृष्टि में मोक्ष पुरुषार्थ ही उत्तम और उपादेय है।

परमात्म प्रकाश के अनुसार—

धम्महं अत्थहं कम्महं वि एयहं सयलहं मोक्खु ।

उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अठणे जेण ण सोक्खु ॥³⁵

यद्यपि निर्वाण या दुःख मुक्ति स्वरूप होने के कारण मोक्ष परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार्य है लेकिन व्यावहारिक जीवन में धर्म, अर्थ और काम भी संग्राह्य हैं। इनके बिना सृष्टि का व्यवसाय चलना कठिन हो सकता है। अतएव धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की उपयुज्यता सिद्ध है।

प्रस्तुत संदर्भ में चारों पुरुषार्थों का संक्षिप्त स्वरूप विचार्य है :—

धर्म :— धर्म शब्द तुदादिगणीय 'घृड्अवस्थाने' धातु से मन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है—ध्रियते लोकोऽनेन धरति-लोकं वा अर्थात् जिसके द्वारा लोक धारण किया जाता है या जो लोक को धारण करता है वह धर्म है। कोश ग्रंथों एवं प्राचीन वांगमय में यह शब्द कर्तव्य, जाति या सम्प्रदाय में प्रचलित आचार, नैतिक कानून, प्रचलन, प्रथा, धार्मिक या नैतिक गुण, अच्छे कार्य आदि अर्थों में प्रयुक्त मिलता है। महाभारत के अनुसार धारण करने वाले को धर्म कहते हैं, धर्म प्रजा को धारण करता है :—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा । धत्स्याहारणसंयुक्तः स धर्म इत निश्चयः ॥³⁶

जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे, उसे धर्म कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक के अनुसार जो इष्ट स्थान में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं — इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्मः ।³⁷

निज शुद्ध भाव का नाम धर्म है जो चतुर्गति के दुख से बचाता है। वस्तुतः धर्म आचरण की संहिता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में नियंत्रित होता हुआ क्रमशः विकसित होता है और अन्त में चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है।³⁸

जैनाचार्यों ने धर्म को उत्तम सुख में नियोजक, इष्ट स्थान में संस्थापक, चतुर्गति दुख संरक्षक, संसार सागर संतारक, दया अहिंसा संयुक्त, पंचपरमेष्ठी भक्ति, सम्यक्त्व, माध्यस्थ वृत्ति, संस्थापक एवं शुद्धात्मा की परिणति आदि अर्थों में स्वीकार किये हैं, यहां पर मुख्यतः इसके दो भेद स्वीकार किये गये हैं : सकलधर्म और एक देश धर्म। मुनिधर्म, अनगार धर्म या श्रमण धर्म को सकल धर्म तथा गृहस्थधर्म, सागर धर्म या श्रावक धर्म को एकदेश धर्म कहा गया है।

अर्थ : अर्थ की महत्ता सार्वजनिक है। धनवान् पुरुष ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। महाभारत, मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, बृहस्पतिसूत्र, नीतिशातक आदि ग्रन्थों में धन की महत्ता प्रतिपादित की गई है। महाभारतकार का तो यहां तक कहना है कि वे ही लोग संसार में जीवित रहते हैं जिनके पास धन है—

धनमाहु परं धर्म धने धर्म प्रतिष्ठितम्।³⁹ जीवन्ति धनिनो लोके मृता येतु अधनानराः ॥

जैन वांगमय में इसे हेय तथा मोक्ष-मार्ग का बाधक बताया गया है।

काम : तृतीय पुरुषार्थ के अन्तर्गत काम की परिगणना की जाती है। व्यक्ति की समस्त कामनाएं, वासनाजन्य प्रवृत्तियां तथा आसक्तिमूलक वृत्तियां काम के अन्तर्गत आती हैं। मानवीय जीवन में काम का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे सृष्टि का मूल कहा गया है। धर्मानुमोदित काम की स्वीकृति दी गयी है जो विश्व में मंगल का संस्थापक होता है :—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भातर्षभ।⁴⁰

अर्थशास्त्र का स्पष्ट निर्देश है कि धर्म से अनुमोदित काम का सेवन करना चाहिए। धर्माविरोधेन कामंसेवेत 41 कालिदास ने लोग मंगल के लिए धर्मानुमोदित काम को उत्कृष्ट माना है। जैन धर्म निर्वृत्तिमूलक है, इसलिए अर्थ और काम दोनों को हेय माना है।

मोक्ष : आत्यन्तिक दुःख निर्वृत्ति मोक्ष है। भारतीय दर्शन में मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति, ब्रह्मपद आदि अनेक शब्द एक ही अर्थ में मिलते हैं। जैन दर्शन में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। बन्ध हेतुओं का अभाव और निर्जरा से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है—बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृस्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।⁴²

आत्मा और बन्ध को अलग-अलग कर देना मोक्ष है—आत्म बन्धयोः द्विधाकरणं मोक्षः।⁴³ द्रव्य एव भावरूप सम्पूर्ण कर्ममलों से विरहित होना मोक्ष है। निज स्वरूप, निर्वाण, तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000

अव्याबाध सुख एवं परमानन्द में प्रतिष्ठापन मोक्ष है। इसकी प्राप्ति के लिए रत्नत्रय की साधना अनिवार्य मानी गयी है— सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः⁴⁴

इसे ही हिन्दू शास्त्रों में भक्ति, ज्ञान और कर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि में शील, समाधि और प्रज्ञा की उपासना अनिवार्य है।

इस प्रकार भारतीय वांगमय में चारों पुरुषार्थों का विवेचन उपलब्ध है लेकिन मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-


1. शब्दकल्पद्रुम, खण्ड-3, पृ. 197
2. वाचस्पत्यम् खण्ड-5, पृ. 4379
3. आर्य जीवन दर्शन, पं. मोहनलाल महतो वियोगी, पृ. 279
4. तत्रैव पृ. 279
5. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ. जयशंकर मिश्र, पृ. 258
6. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/543
7. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/543
8. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/543
9. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/549
10. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/574
11. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/579
12. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/577
13. एक बूंद एक सागर, जैन विश्व भारती, 3/563
14. ईशावास्योपनिषद्-1
15. ईशावास्योपनिषद्-15
16. ऋग्वेद 4.23.8-9, 10.81.1
17. ऋग्वेद 10.37.2., 9.113.5
18. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.5
19. छान्दोग्योपनिषद् 1.1.10
20. कठोपनिषद्—प्रथमबल्ली एवं आगे 'यम-नचिकेता संवाद'
21. बृहदारण्यकोपनिषद्—चतुर्थ ब्राह्मण 1—14
22. मनुस्मृति 2.224
23. मनुस्मृति 7.100
24. विष्णुपुराण 1.18.21
25. सांख्यसूत्र 1.1
26. सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 389
27. जैमिनीसूत्र 4.1.2
28. सर्वदर्शन संग्रह पृ. 762
29. सर्वदर्शन संग्रह पृ. 5
30. भागवतपुराण 4/20/24
31. ज्ञानार्गव 3/4
32. भगवती आराधना 1814*
33. भगवती आराधना 1815
34. पद्मनन्दि पंचविशतिका 7.25
35. परमात्मप्रकाश 2.3
36. महाभारत कर्णपर्व 109.58 राजवार्तिक 9.2.3591.32
37. सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक 9.2
38. गोखले, इण्डियन धाट टू द एजेज, पृ. 25
39. महाभारत, उद्योगपर्व 72.23
40. गीता 7.11
41. अर्थशास्त्र 17
42. तत्त्वार्थसूत्र 10.2
43. समयसार, गाथा 288 पर टीका
44. तत्त्वार्थसूत्र 1

श्रावकाचार का नवाचार

✍ मुमुक्षु शान्ता जैन

जैन परम्परा में धर्म का अधिकार सबको दिया गया है, चाहे वह श्रमण हो या श्रावक। आगार धर्म एवं अणगार धर्म की प्ररूपणा साधना की दृष्टि से भगवान महावीर की महत्वपूर्ण देन है। श्रावक के लिए दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्परा के साहित्य में श्रावकाचार का विशद वर्णन उपलब्ध है। आचार्यों द्वारा लिखित इन ग्रन्थों की भाषा प्राकृत एवं संस्कृत निबद्ध होने से सर्व सुलभ एवं सर्वग्राह्य नहीं है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी की रचना श्रावकाचार की 'श्रावक संबोध' जिसके रचयिता आचार्य श्री तुलसी हैं, युगभाषा में महत्वपूर्ण कृति कही जा सकती है।

श्रावक संबोध श्रावक की आचार-संहिता और व्रती-समाज की स्वस्थ संरचना का संविधान है। इसका सृजन निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की मूल्यपरक व्याख्या पर आधारित है। यद्यपि उवासगदसाओ में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख मिलता है। दशाश्रुतस्कन्ध में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है और भी अनेक प्राचीन ग्रन्थों में श्रावक की व्रत मीमांसा में समृद्ध व्याख्याएं उपलब्ध हैं मगर उन प्राचीन मूल्यों को आज के परिवेश में नए ढंग से प्रस्तुति दिए बिना आज की पीढ़ी के लिए इनका ज्ञान, श्रवण, निष्ठा और आचरण संभव नहीं है। अतः 'श्रावक संबोध' मानवीय मूल्यों के योगक्षेम में नए चिन्तन एवं सटीक समाधान के साथ श्रावक को नई दिशा और नई दृष्टि देता है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  77

‘श्रावक संबोध’ श्रावक के चरित्र का भाष्य है। इसमें श्रावक जीवन की मौलिक विशेषताओं का प्राचीन एवं वार्तमानिक विशुद्ध विवेचन उपलब्ध हैं। इसमें श्रावक जीवन की पहचान के मानक प्रस्तुत किए गये हैं। श्रावक कौन हो सकता है? उसका क्या दायित्व है? उसकी जीवन शैली कैसी है? उसका आदर्श, उद्देश्य और आचरण क्या होना चाहिए? आदि बिन्दुओं पर युगीन भाषा में प्रकाश डाला गया है।

श्रावक संबोध सिद्धान्त या शास्त्र नहीं है, साधना का संबोध है। ग्रन्थकार ने श्रावक संबोध उन लोगों के लिए बनाया है जो चरित्र निर्माण की निष्ठा से जुड़े हुए हैं। जिन्हें सही रास्ते की खोज है। जो मानवीय मूल्यों की सुरक्षा करना अपना दायित्व समझते हैं। जिनमें ज्ञान-पिपासा है। सही दृष्टिकोण है। सापेक्ष चिन्तन है। त्याग की संस्कृति से जुड़े हैं। निश्चित रूप से श्रावक संबोध ऐसे लोगों के लिए कुहासे में सूरज उगाने जैसा है।

श्रावक संबोध में शाश्वत एवं सामयिकी जीवन मूल्यों का समन्वय है। ग्रन्थकार ने इसकी रचना करते समय मार्क्स के इस चिन्तन को सामने रखा ‘दर्शन आदमी को ज्ञान देता है पर बदलता नहीं, इसलिए ऐसा दर्शन चाहिए जो समाज को बदल सके।’ लेखक ने श्रावक के लिए ऐसे ही दर्शन को जन्म दिया जिसे श्रावकचार का नवाचार रूप कहा जा सकता है। यह उन श्रावकों के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है जिनके लिए आज के परिवेश में बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओं की साधना संभव नहीं और जो सामायिक, सन्त-दर्शन, प्रवचन-श्रवण, स्वाध्याय, ध्यान, त्याग, तप आदि उपासनात्मक क्रियाओं में समय नहीं दे सकते पर वे भी स्वस्थ जीवन-शैली की तलाश में हैं। जैनत्व की सुरक्षा में जागरूक हैं।

श्रावक संबोध जैन श्रावकाचार का लघु संस्करण है। इसमें श्रावक की पहचान ज्ञान और आचार की संयुति से करवाई गई है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, रत्नत्रयी मोक्ष पथ है।

उमास्वाति के शब्दों में श्रावक-जीवन का यह अर्थ है ॥ १/१६ ॥

सम्पूर्ण धर्म, दर्शन, चिन्तन, कर्म और संस्कृति की बुनियाद में ‘णाणस्स सारमायारो’ की भावना जुड़ी रही है। जैनधर्म आचारशून्य ज्ञान को स्वीकृति नहीं देता है। यहां आचार का प्राण तत्त्व व्रत को माना गया है। इसलिए व्रत की भूमिका पर दो श्रेणियों की गई-श्रमण और श्रावक।

श्रमण सर्व सावद्य योगों का त्याग कर संन्यस्त होता है। श्रावक गृहस्थ जीवन से जुड़ा है, इसलिए उसके लिए सर्व सावद्य कार्यों का त्याग संभव नहीं होता। वह कुछ सीमा

तक भोग-परिभोग का संयमन करता है। इसलिए ऐसे श्रावकों को भगवान महावीर ने व्रताव्रती, धर्माधर्मी और संयमासंयमी कहा है।

व्रती श्रावक की पहली पहचान है-सम्यग् दर्शन यानी सत्य के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण। आत्म-विकास के आरोहण में पहला पायदान है सम्यग् दर्शन। बिना सम्यग् दर्शन के ज्ञान भी मिथ्या हो जाता है। श्रावक संबोध कहता है कि सम्यग् दर्शन के साथ निम्न उपलब्धियां आवश्यक हैं :-

सम्यग्दर्शन हो श्रावक में, त्रैकालिक आत्मा में आस्था।

आराध्यदेव अरहंत सदा, सद्गुरु आध्यात्मिक अनुशास्ता।

अर्हद्भाषित सद्धर्म-अहिंसा, संयम तप का आराधन।

हो लक्ष्य मोक्ष परमात्म पदं, पुरुषार्थ स्वयं का संसाधन ॥ १/१८ ॥

सम्यग्दर्शी श्रावक सत्यान्वेषी होता है। उसका चिन्तन सदा विधायक रहता है। वह श्रद्धाशील, विश्वासपात्र और जीवन जागृति के लिए प्रयोगधर्मा होता है। प्रश्न होता है कि हम पहचान कैसे करें कि श्रावक सम्यग्दर्शी है या नहीं? इसके लिए श्रावक संबोध पांच मानक प्रस्तुत करता है —

शम-हो कषाय का सहज शमन, संवेग-मुमुक्षावृत्ति सबल।

निर्वेद-बढ़े भव से विराग, अनुकम्पा-करुणा-भाव अमल।

आस्तिक्य-कर्म आत्मादिक में, जन्मान्तर में विश्वास प्रबल।


ये लक्षण सम्यग् दर्शन के, जीवन यात्रा में हैं संबल ॥ १९ ॥

श्रावक संबोध श्रावक का आचार शास्त्र है। आचारांग सूत्र में आचार संहिता का आधार आत्मा को माना है। आत्मा का ज्ञान करो पर आत्मा अमूर्त है, अदृष्ट है, इन्द्रियों से ज्ञेय नहीं। इसलिए जब तक वह अवबोध न हो जाए कि मैं कौन हूँ और कहां जाऊंगा? तब तक यह प्रयास करो।

प्रश्न उठता है कि श्रावक संबोध जब आचारपरक कृति है तो इसमें जीव, आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, नवतत्त्व, षड्जीवनिकाय, पंचास्तिकाय, अनेकान्त, सप्तभंगी जैसे गूढ़ तत्त्वों की चर्चा क्यों? समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि—

‘श्रावक जीवन की सार्थकता, नव तत्त्वों के अनुशीलन से’ ॥ १/२१ ॥

दर्शन और आचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञानशून्य आचार का कोई मूल्य नहीं और आचारशून्य ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया है:

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  79

अन्नाणी किं काही? किं वा नाहिइ छेयपावगं। जो ज्ञानी नहीं है वह श्रेय-अश्रेय में भेद कैसे करेगा? कैसे श्रेय का आचरण करेगा और कैसे अश्रेय का परित्याग करेगा? शुभ-अशुभ को जानने के लिए भी आचार शास्त्र में तत्त्वज्ञान आवश्यक है। फिर श्रावक की परिभाषा में कहा भी गया है—जो जीवाजीव का ज्ञाता होता है वह श्रावक होता है।

**‘न्यूनतम नव तत्त्व विद्या का सहज संज्ञान हो, स्वस्थ सम्यग् दृष्टि सम्यग् ज्ञान का संज्ञान हो।
बिना प्रत्याख्यान श्रावक भूमि में कैसे बढ़े? बिना अक्षर-ज्ञान जीवन-ग्रन्थ को कैसे पढ़े ॥१/३३ ॥**

नव तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में सोचा जाए तो यदि तत्त्वज्ञान नहीं होगा तो जड़-चेतन का भेद कैसे जानेंगे? कैसे पुण्य-पाप को समझकर हेय को छोड़ेंगे और उपादेय को ग्रहण करेंगे? कैसे बन्धन से बचेंगे? कैसे बुराइयों का प्रवेश रोकेंगे? बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण करने में तत्त्वज्ञान हमारे लिए रोशनी की मीनार है।

ज्ञान, दर्शन के साथ चरित्र की साधना श्रावक के लिए अत्यन्त आवश्यक बतलाई है। चरित्र की शुरुआत व्रत से होती है और व्रत की शुरुआत प्रत्याख्यान से। बिना त्याग की भाषा में श्रावकत्व की भूमिका शुरु नहीं होती। आज आम लोगों की सोच बन गई कि वे संकल्प कर सकते हैं मगर त्याग (प्रत्याख्यान) से परहेज रखते हैं। इस संदर्भ में हमें संकल्प और त्याग में फर्क समझना होगा। संकल्प परिस्थितिवाद से और इच्छा-स्वातंत्र्य से जुड़ी हुई होती है। यदि मनुष्य का मन चंचल है, इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं, कषाय उद्दीप्त हैं तो संकल्प बार-बार टूटता है। थोड़ा सा मन कमजोर पड़ा कि संकल्प पीछे छूट जाएगा मगर त्याग का लोह वरण हमें विकल्प के बारे में सोचने ही नहीं देगा। दरवाजा बंद कर दिया तो कर दिया, फिर नहीं खुल सकता। अतः प्रत्याख्यान के हार्द को समझकर श्रावक इस दिशा में गतिशील बने।

श्रावक संबोध में श्रावकाचार की आगमिक बातों को सरलीकरण करके सामयिकी प्रस्तुति दी गयी है। बारह व्रतों की विस्तृत व्याख्या को संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुति देते हुए आधुनिक समस्याओं के समाधान की ओर भी संकेत किया है। अहिंसा अणुव्रत से आतंकवाद का अंत, सत्य अणुव्रत से प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव, अचौर्य अणुव्रत से आर्थिक अपराधीकरण का शमन, ब्रह्मचर्य अणुव्रत से भोगेच्छा का संयमन और अपरिग्रह अणुव्रत से इच्छा-परिमाण, आर्थिक विग्रह का अंत, आवश्यकता और आंकाक्षा का भेदज्ञान होना बतलाया है। (श्रावक संबोध ३५-४०)

आज की समस्या है उपभोक्तावादी संस्कृति की प्रधानता। पदार्थ कम, उपभोक्ता

अधिक, आकांक्षाएं उससे भी अधिक तब पदार्थ और प्राणी के बीच सन्तुलन कैसे बैठे? आचार्य श्री ने भोगवाद, इच्छावाद, संग्रहवाद और व्यक्तिवाद इन सबके लिए एक शब्द में ही समाधान दे दिया कि 'सीमांकन संस्कार' की साधना करो—

**उपभोक्ता अनपार, परिमित भोग्य पदार्थ है,
सीमांकन संस्कार, समाधान श्रावक करे ॥ १/४२ ॥**

गुणव्रत-दिग्व्रत, भोगोपभोगव्रत एवं अनर्थदण्ड विरमण की साधना का फलित बतलाया — इच्छाओं का समीकरण, उपयोगिता के प्रति जागरूकता। श्रावक संबोध श्रावक की आम जीवन-शैली में गुणव्रतों को आदतन संस्कार बनाने की प्रेरणा देता है—

○ श्रावक सामायिक करे यानी समत्वभाव का अभ्यास करे। श्रावक पौषध करे यानी साधु जीवन कैसा होता है? एक दिन ही सही, इसका अनुभव करे। श्रावक संविभाग की मनोवृत्ति का विकास करे। साधु को देना सिर्फ भिक्षा देना ही न माने बल्कि मनुष्य में धर्मानुराग, विसर्जन की मानसिकता, अनासक्त-चेतना का विकास होता है। साथ ही साथ यह भवसागर को पार उतारने में नौका तक का काम करता है। श्रावक संबोध श्रावक को केवल जीना ही नहीं सिखाता, श्रावक समाधिमरण कैसे करे? उसके लिए भी संलेखना-संधारे की प्रक्रिया समझाकर उसे देहासक्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है ताकि श्रावक मृत्यु को भी महोत्सव बना सके।

व्रतों की यह परम्परा केवल चर्या की रूढ़ता नहीं है। इस साधना से श्रमण संस्कृति की अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा जुड़ी हुई है। यह व्रत परम्परा आज का आम आदमी भी जी सकता है, क्योंकि आत्म-विशुद्धि सबको काम्य है।

आगमों में वर्णित श्रावक के तीन मनोरथों एवं चार विश्रामों का वर्णन उपलब्ध है। श्रावक संबोध इसे युगीन भाषा में अभिव्यक्ति देता है। मनोरथ लक्ष्य के प्रति समर्पित चेतना का संकल्पबद्ध होना है। स्वीकृत संकल्पों को अथवा निर्धारित लक्ष्य का पुनः-पुनः अवधान करने से मनचाहा फलित होता है। इसलिए भगवान ने कहा-मनुष्य जीवन की सार्थकता में जो करणीय कार्य है, उन्हें करो। छद्मस्थता की वजह से अभी नहीं तो कभी तो होगा, इस संकल्प भावना को पुष्ट करते रहो। मनोरथ पाने का मतलब है श्रावक अनुप्रेक्षा करता रहे-जीवन का अन्तिम लक्ष्य सदा सामने रहे-जीवन परिवर्तन की यह प्रायोगिक भूमिका है। इसी तरह से श्रावक के चार विश्रामों के आगमिक सन्दर्भ को आज की भाषा में प्रस्तुति देते हुए आचार्य श्री तुलसी ने आज के समस्या-संकुल परिवेश में तनावों की भीड़ में जीते हुए व्यक्ति तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000

के लिए विश्राम की अनिवार्यता बतलाई है। यदि व्यक्ति आसक्ति कम नहीं करेगा, चिन्ताओं का बोझ नहीं उतारेगा, इच्छाओं का परिसीमन नहीं करेगा तो मानसिक तनावों का बोझ ढोते-ढोते वह थक जाएगा। अतः उसे विश्राम लेना होगा और उसके लिए कहा गया—
'बने श्रावक श्रान्त खिन्न नितान्त अव्रत भार से' ॥

इसलिए भगवान ने कहा—'सर्व्वं विरति कुञ्जा'—सर्वत्र विरति करो। संकल्प विकल्पों के विश्राम से संयम सधता है और संयम से सुख और सुख से शांति मिलती है। इसलिए तनावों की बोझिल जिन्दगी में अव्रत का संयम करें।

श्रावक संबोध में श्रावकत्व की श्रेष्ठता का एक मानदण्ड यह भी माना गया कि जो चार महास्कन्धों से मुक्त होगा, वह महाश्रावक कहलाएगा। इसके लिए श्रावक—

1. जीवन भर अब्रह्मचर्य का त्याग करें। 2. रात्रि खान-पान का परिहार करें।
3. सचित्त के ग्रहण का त्याग करें। 4. कंदमूल पदार्थ सेवन का त्याग करें।

मगर आधुनिक जीवन-शैली में महास्कन्धों की साधना आम आदमी के लिए सहज नहीं होती। आज के माहौल में जहां सुविधावाद, सुखवाद, पदार्थवाद और इच्छावाद सीमाएं लांघ रहा हो वहां आगम वर्णित इन चार महास्कन्धों के त्याग की बात कोई सोच भी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में जैन संस्कारों की सुरक्षा में युवा मानस को प्रेरित करते हुए आचार्य श्री ने नई विधा में महास्कन्ध परिहार की साधना प्रस्तुत की—

**नई विधा से भी हो महास्कन्ध का वर्णन, रूढ़िमुक्ति, आसक्ति-मुक्ति, आवेश-विसर्जन।
अप्रमाणिक वृत्ति कभी क्या जगे हृदय में, अनाग्रही चिन्तन हो अनेकान्त की लय में ॥१/६० ॥**

प्राचीन समय में श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम स्वीकारने की परम्परा थी। आज भी परम्परा प्रचलित है। सचित्त, द्रव्य, विगय, पन्नी, ताम्बूल, कुसुम, वाहन, शयन, विलेपन, अब्रह्मचर्य, दिशा, स्नान और भोजन-इन 14 बिन्दुओं पर आज भी इनका संकल्प पूर्वक श्रावक त्याग करता है। पर कुछ बातों पर समीक्षा भी आवश्यक है, अतः आधुनिक जीवन-शैली के साथ प्रतिदिन नौ सूत्रीय जीवन-शैली का उपक्रम प्रस्तुत करना भी प्रासंगिक एवं उपादेय है। मगर आज साधना के इस उपक्रम के प्रति सचेतता नहीं रह पाई। देर से सोना, देर से उठना और भागती जिन्दगी के दौर में ऐसा करना संभव नहीं लगता, इसलिए आचार्य श्री तुलसी ने श्रावक संबोध में नयी दिशा, नई दृष्टि दी—

खाद्यों की सीमा वस्त्रों का परिसीमन, पानी बिजली का हो न अपव्यय धीमन!

यात्रा-परिमाण मौन प्रतिदिन स्वाध्यायी, हर रोज विसर्जन अनासक्ति वरदायी।

हो सदा संघ सेवा, सविवेक सफाई, प्रतिदिवस रहे इन नियमों की परछाई ॥ १/६२ ॥

जीवन चर्या के ये नौ नियम श्रावक के लिए प्रेरणा के प्रकाश दीप बने हैं। क्योंकि बढ़ती हुई असंयम की मनोवृत्ति, आर्थिक मृगतृष्णा, पदार्थपरक दृष्टिकोण, सुविधावाद, सांस्कृतिक मूल्यों का हास आदि सीधे जैन संस्कृति पर प्रहार करते जा रहे हैं। जब युग पुराने मूल्यों को नकार देता है तो सर्व सम्मत नए मूल्यों की प्रतिष्ठापना जरूरी हो जाती है अन्यथा समाज की स्वस्थता और संस्कार समृद्धि का सुरक्षित रहना संभव नहीं होता। अतः सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा के साथ जीवन मूल्यों के विकास और संरक्षण में सौद्देश्य जागरूकता के साथ जीए जाने वाले नौ सूत्रों की साधना का प्रेरक संबोध दिया गया है।


श्रावक की जीवन शैली का पूरा नक्शा आचार्यश्री तुलसी ने श्रावक संबोध में खींच दिया। आचार्यश्री ने श्रावक की उस धारणा को तोड़ा कि सिर्फ धार्मिक उपासना से श्रावक सही मायने में श्रावक नहीं बनता। श्रावक के जीवन में उसके चरित्र की विशेष पहचान भी होनी चाहिए। 'मैं जैन हूँ' उसका गर्व जन्मना नहीं, कर्मणा होना चाहिए। अतः श्रावक का चरित्र व्यवहार में भी जैन संस्कारों का जीवन्त उदाहरण बने। इसलिए आचार्यश्री ने जैन जीवन शैली की प्रतिष्ठापना की। जैन जीवन-शैली के नौ सूत्रों की साधना श्रावकत्व की सार्थक पहचान है—

1. सम्यग् दर्शन 2. अनेकान्त 3. अहिंसा 4. समण संस्कृति 5. इच्छा-परिमाण 6. सम्यग् आजीविका 7. सम्यग् संस्कार 8. आहारशुद्धि व व्यसन मुक्ति 9. साधर्मिक वात्सल्य

(१/६५-६६)

नव आयामी जैन जीवन-शैली ब्रती-समाज की संरचना में एक सक्रिय टोस कदम है। असंयम, अस्थिरता, असहिष्णुता और भोगवाद की चुनौतियों के बीच जैन जीवन-शैली का अभ्यास समग्र दर्शन की स्वस्थता का प्रतीक है।

श्रावक संबोध सामायिकी एवं शाश्वती समस्याओं के समाधान में सटीक भूमिका निभाता है। जैन जीवन-शैली की प्ररूपणा वस्तुतः मनुष्य को समाधान देती है। मिथ्यादर्शन, निषेधात्मक सोच, आग्रही पकड़, आवेश, क्रूरता, आसक्ति, असंयम आदि शाश्वती समस्याएं हैं जबकि अनास्था, अन्धानुकरण, भ्रूणहत्या, आतंकवाद, संग्रह की मनोवृत्ति, सुखवाद, सुविधावाद, श्रम की उपेक्षा, प्रसाधन सामग्री की स्पर्धा आदि युगीन समस्याएं हैं। आचार्य श्री ने नव सूत्रों के माध्यम से सब प्रश्नों का सटीक उत्तर दिया है। आपने इसे लता की उपमा से उपमित किया है। इसकी तुलना अक्षीणमहानस लब्धि से की जा सकती है। यह लब्धि जिसके पास होती है वह थोड़े से खाद्य पदार्थों से हजारों व्यक्तियों को भोजन करा देता है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  83

फिर भी पदार्थ ज्यों-के त्यों बने रहते हैं। इसी प्रकार चित्राबेला के सम्पर्क से पदार्थ अखूट हो जाता है। स्वस्थ समाज संरचना का यह सुन्दर प्रारूप है।

श्रावक परिवार, समाज, देश से जुड़ा है, अतः हर क्षेत्र में उसका दायित्व मूल्य रखता है। इसलिए वह अपने जीवन में जहां अर्थ और काम का संतुलन रखता है वहीं धर्म और मोक्ष के आध्यात्मिक उद्देश्यों के प्रति जागरूक भी रहता है। चार पुरुषार्थों के बीच सामंजस्य रखने वाला ही सही अर्थों में श्रावक हो सकता है। श्रावक संबोध में धर्म की दो दृष्टियां प्रतिपादित की हैं—लौकिक एवं लोकोत्तर। लौकिक दृष्टि से अर्थ और काम से श्रावक जुड़ा है। लोकोत्तर दृष्टि से धर्म और मोक्ष से जुड़ा है। सम्यक् दृष्टिकोण के विकास में यही कहा गया कि—

दोनों ही निश्चय-व्यवहार निभाते, लौकिक-लोकोत्तर में संतुलन बिठाते।

उनका कर मिश्रण नहीं मूढ़ कहलाते, घी तम्बाकू की घटना भूल न पाते। 2/10)

इस संदर्भ में धर्म की मूल चेतना को समझने के लिए आचार्य भिक्षु की धर्मव्याख्या ज्ञातव्य है। सही अर्थों में धर्म वही है जो जिन आज्ञा सम्मत है। 'आणाए मामगं धम्मं' भगवान की यह प्रज्ञप्ति है। इस कथन में अहं नहीं, सत्य की यथार्थ प्रस्तुति है। वीतराग कभी उस धर्म की आज्ञा नहीं देते जो आध्यात्मिक न हो। अतः ग्रन्थकार ने धर्म का विवेक दिया,

जिनमत-सम्मत, व्रत और अहिंसा,

जिनवाणी बाह्य असंयम, अब्रत और अहिंसा ॥ (2/11)

क्षीर, नीर निर्णायक बुद्धि से प्रतिपादित धर्म का लौकिक एवं लोकोत्तर स्वरूप श्रावक के लिए वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करता है।

मनुष्य की स्वाभाविक अभिरुचि रही है कि बिना परिणाम जाने वह पुरुषार्थ नहीं करना चाहता। उसे अपने कर्म का फल अवश्य चाहिए। इसलिए जब श्रावक को श्रमणोपासना की प्रेरणा दी गई तो उसकी उपयोगिता के संदर्भ में भी साथ-साथ कर्मफल की परम्परा का ज्ञान भी करा दिया गया। प्रश्न सामने आया कि श्रमणों की उपासना से क्या उपलब्धि होगी? तो ग्रन्थकार ने एक ही पद्य में आगमिक तत्त्व मीमांसा प्रस्तुत कर दी।

श्रमणों की उपासना का फल है श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनाश्रव, अनाश्रव से तप, तप से कर्म निर्जरा, कर्म निर्जरा से अक्रिया और अक्रिया का फल शाश्वत सिद्धि। यह कार्य-कारण से जुड़ी फल-मीमांसा मन को निष्ठा से जोड़ती है और निष्ठा चरित्र का परिष्कार करती है।

लेखक ने श्रावक संबोध में श्रावक के दायित्व और धर्म के सन्दर्भ में विवेक दिया। आपने कहा-श्रावक करणीय-अकरणीय का भेद समझे। बिना मतलब एक पैसे का भी अपव्यय न करें और आवश्यक हो तो सर्वस्व समर्पित कर दे। बिना प्रयोजन चींटी की भी हिंसा परिहार्य है और देश रक्षा हित में जैन श्रावक के लिए युद्ध भी अनिवार्य है। श्रावक दायित्व और धर्म को सम्यक् दृष्टिकोण से समझे।

श्रावक संबोध ने श्रावक को व्यावहारिक भूमिका पर भी स्वस्थ जीवन-शैली का प्रशिक्षण दिया है। जैन संस्कृति की सुरक्षा में उसके लिए दायित्व की भूमिका निर्धारित की है। उसे आगाह किया कि वह आयात संस्कृति के फैलते दुष्परिणामों से स्वयं को बचाए। क्योंकि आज जैन समाज में होने वाले आयोजन, उत्सव, जन्म से लेकर मृत्यु तक होने वाली रीति-रस्मों पर अर्थ का अपव्यय और झूठी शान-शौकत की प्रतिस्पर्धा ने जैन संस्कृति पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण ने हमारे आदर्शों और सिद्धान्तों को ताक पर रख दिया है। संस्कृति के अवसरों पर हमारे ही घरों का बाल, युवा और प्रौढ़ तक फिल्मी धुनों पर नाचते हैं, आतिशबाजी करते हैं, शराब का दौर चलता है, आधी-आधी रात तक अमर्यादित खान-पान होता है। ऐसे परिवेश में श्रावक अपना दायित्व समझें। जैन संस्कृति के योगक्षेम में अपना योगदान दें। इसके लिए श्रावक संबोध कहता है—

**हर प्रसंग में जो उपयोगी, उपलब्ध जैन संस्कार-विधि,
सम्यक् दर्शन में सहयोगी, भावी पीढ़ी की नई निधि
क्यों छोड़ इसे अन्धानुकरणमय भेड़चाल की ढाल बने,
कर समय शक्ति का दुरुपयोग, बेमतलब ही बेहाल बने ॥ 2/46)**


हर युग में मनुष्य अपने देश, जाति, कुल, धर्म, नाम, संस्कृति पर गौरव करता है। जैन होना भी गौरव और गर्व की बात है। आचार्य श्री ने आह्वान की भाषा में कहा है—
मैं जैनी हूँ जनता में धाक जमाएँ, खोकर भी लाख, न अपनी साख गमाए।

श्रमणोपासक होना सौभाग्य-घड़ी है, धार्मिक संस्कृति की संजीवनी जड़ी है। (1/63)

मैं जैन हूँ, यह स्वीकृति श्रावक की निष्ठा का प्रमाण-पत्र है। क्योंकि जैनत्व का एहसास उसे जीवन में कभी कोई ऐसा गलत काम नहीं करने देगा जिससे जैन संस्कृति के गौरव का कद छोटा पड़ जाए। आचार्य श्री ने श्रावक की श्रेष्ठताओं को ऊंचे कद पर रखकर कहा—

श्रमणोपासक भी तीर्थंकर की कृति है।

यह विश्व मान्य अनुपम धार्मिक अनुकृति है। (१/६४)

तुलसी प्रज्ञा अप्रैल—सितम्बर, 2000  85

तीर्थंकर की कृति जैसा सम्बोधन पाकर श्रावक कृतार्थ हो गया। भला इससे बड़ा और क्या पुरस्कार होगा और क्या नेमप्लेट होगी?

मगर आज के परिप्रेक्ष्य में चिन्तनीय प्रश्न है कि क्या सही अर्थों में हम जैन हैं? आज तो पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित युवा-पीढ़ी अपने आपको जैन कहने में भी शर्म महसूस करती है, क्योंकि उनके पास न ऐसे ऊंचे आदर्श हैं जिनका ज्ञान और आचरण एक सा है, न स्वस्थ संस्कार है न आदर्श संस्कृति है और न सही समय पर गलत रास्तों पर जाने से रोकने वाले सक्षम हाथ हैं न ईमानदार प्रयत्न हैं इसलिए श्रावक सम्बोधन में श्रावक को सचेत किया है कि श्रावक जन्मना नहीं, कर्मणा भी अपनी पहचान बनाए।

भगवान महावीर के अनेकान्तिक दृष्टिकोण का यह फलित है कि उन्होंने श्रमण और श्रावक को अन्योन्याश्रित भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने साधु की तरह श्रावक को भी धर्म करने का अधिकार दिया। उसकी आचार-संहिता बन गई। व्रतों की व्यवस्था दी, जीवन-शैली की व्याख्या दी। साधना-उपासना का क्रम उपस्थित किया। यही नहीं, उन्होंने भगवान द्वारा दिये गये श्रावक के लिए 'अम्मापिउसमाणा' सम्बोधन से दायित्व की सीमाओं को अधिक व्यापक बना दिया।

श्रावक साधुओं के मां-बाप तुल्य होते हैं। वे साधुओं के निश्रास्थान कहलाते हैं, इसलिए उन्हें अधिकार है कि वे सन्तों की कोई गलती देखे तो अंगुलि निर्देश करें। न माने तो शालीनता के साथ अनुशासनात्मक कार्यवाही भी करें। श्रावक संबोधन में भी इस बात की पुष्टि की गई है पर साथ ही साथ श्रावक को सावधान भी किया गया है कि वह निर्हेतुक हस्तक्षेप न करें। यह अधिकार सिर्फ साधुत्व सुरक्षा में, संयम पालना में सहयोग की दृष्टि से दिया गया है।

**अंगुलि-निर्देश सन्तों के लिए श्रावक करे, समय पर अनुशासनात्मक कार्यवाही भी करे।
नहीं हस्तक्षेप किंचित मात्र निर्हेतुक कभी, सदा अपने क्षेत्र में शालीनता साथे सभी ॥ (2/19)**

इस प्रकार संघीय व्यवस्था और प्रभावना में श्रावक को नजदीकी एवं निजता का दायित्व और अधिकार देकर जैन शासन ने उसकी महत्ता को और अधिक बढ़ा दिया।

आगम युग के श्रावक एवं श्राविकाओं के जीवन आदर्शों का उल्लेख कर श्रावक पीढ़ी के सानने पथदर्शकों की एक पंक्ति खड़ी कर दी। इन श्रावकों की धर्मनिष्ठा, लक्ष्यनिष्ठा, संकल्पनिष्ठा और चरित्र-निष्ठा ने जैनत्व संस्कृति को नई पहचान दी है। उन्होंने पूणिया श्रावक की सामायिक में अखण्ड निष्ठा का होना, श्रावक आनन्द का संयम, श्रम, समता का

साधक होना, सद्दाल पुत्र द्वारा पुरुषार्थवादी अभिमत को स्वीकारना, सुदर्शन की अभय साधना का प्रकट होना, पोक्खली आदि श्रावकों का निःशल्य होकर शंख से क्षमायाचना करना आदि श्रेष्ठताओं का उल्लेख कर श्रावकत्व के मानक प्रस्तुत किए हैं। इसी तरह श्रावक संबोध में तेरापंथ श्रावक परम्परा के अनेक व्यक्तियों की श्रद्धा, निष्ठा, समर्पण, त्याग, बलिदान की गौरव गाथाओं को गुम्फित कर उन दृष्टान्तों को दिशा-बोध का माध्यम बनाया है। (२/२१-२७)

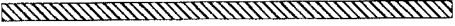
लेखक ने प्राचीन काल की उन सन्नारियों का भी गौरवशाली वर्णन किया है जिन्होंने अपने शील और संयम की सुरक्षा में प्राणों तक को दांव पर लगा कर जैन-शासन की प्रभावना की है। श्राविका जयन्ती का तत्त्वज्ञान, सुलसा की दृढ़ धार्मिकता, रेंवती का सुपात्रदान, रानी धारिणी के शीलव्रत का संरक्षण, सुभद्रा का सतीत्व परीक्षण और चन्दना का धृतिबल श्राविका समाज के लिए प्रेरणा के प्रकाशदीप हैं। (२/२८-३२) ग्रन्थकार ने आदर्श नारियों के गुणानुवाद में जो उदात्त दृष्टिकोण दिखाया और उनके प्रति स्वयं बद्धांजलि होकर जो विनम्र संवेदनशील अभिव्यक्ति दी—एक धर्मसंघ के आचार्य द्वारा महिलाओं के सम्मान में यह कहना—‘**धन्य तुलसी धन्य सौ-सौ बार विधिवत वंदना**’ एक साहसिक कदम है। इससे नारी जाति की पूज्यता को ऊंचे शिखर मिले हैं।

संघीय-विकास और प्रभावना का एक मुख्य घटक श्रावक को भी माना गया है। साधु की तरह श्रावक की भी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। इसीलिए कहा गया—

**जिनशासन का अविभाज्य अंग है श्रावक, मति से, गति से जिनमत का सदा प्रभावक।
शासन की उन्नति में निज उन्नति देखें, निज उन्नति में शासन उन्नति आलेखे ॥ (१/१०)**

श्रावक का शुद्ध आचार-विचार, व्यवहार और संस्कार जैन शासन का गौरव बढ़ाता है। उसकी जीवन-शैली जैनत्व की पहचान बनती है। इसलिए वह ऐसा कोई काम नहीं करता जिसके लिए कोई उसकी ओर अंगुली उठाए। श्रावक अपने विकास की उपलब्धियां संघ को अर्पित करता है और संघ अपनी प्रभावना का श्रेय श्रावक को देता है। दोनों एक-दूसरे से जुड़े होते हैं।

जिस संघ में अर्थवैभव और संस्कारवैभव से सम्पन्न श्रावक समाज होता है वह संघ अपनी गौरवशाली पहचान रखता है। जिस समाज में रोटी, मकान, कपड़ा, शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार के लिए श्रावक अभावों में जूझता रहता है वह श्रावक समाज न प्रगतिशील हो पाता है और न ही प्रामाणिक रह पाता है।

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  87

इस सन्दर्भ में श्रावक संबोध के भाष्य में उद्धृत यह बात द्रष्टव्य है कि आचार्य श्री से प्रश्न पूछा गया कि संघ में धनाढ्य लोगों को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है तो ग्रन्थकार ने समाधान में कहा—प्रश्न धनाढ्य या गरीब का नहीं होता, प्रश्न उपयोगिता का होता है। इस बात को गहराई से समझना चाहिए। जहां सामायिक के प्रसंग में श्रावक पूर्णियां का मूल्यांकन किया जाता है वहां जिनशासन की प्रभावना में राजा श्रेणिक का नाम उल्लेखनीय है। जहां संघ की प्रभावना में तपस्वी, मौनी, ध्यानी, तत्त्ववेत्ता, प्रवक्ता, लेखक, कलाकार व्यक्तियों का मूल्य है वहां आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, सामाजिक, प्रतिष्ठानों में श्रावक का ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित होना भी संघ गरिमा का अंग है।

श्रावक संबोध में पारम्परिक मान्यताओं को सम्मान देते हुए युगीन चिन्तन को भी स्वीकृति दी गई है। लेखक प्राचीन मूल्यों के अनुकरण को सामाजिक और वैयक्तिक विकास में बाधक नहीं मानता। उन्होंने विवेक जोड़ने की बात कही। उन्होंने स्वयं कहा है—

‘मैं परम्परा विरोधी नहीं हूँ। अच्छी परम्पराएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रान्त होती रहे, यह आवश्यक है। जिस देश में या समाज में परम्परा को कांच का बर्तन समझकर एक झटके से तोड़ दिया जाता है वह देश और समाज अपनी सांस्कृतिक एवं सामाजिक विरासत को सुरक्षित नहीं रख सकता। इसलिए श्रावक संबोध श्रावक की विवेक चेतना जगाता है कि प्राचीनता एवं नवीनता के बीच समन्वयदृष्टि का विकास कर उपादेय को स्वीकारे।

श्रावक संबोध में जहां, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पारम्परिक चर्चा की गई है, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा, तीन मनोरथ, चार विश्राम, चार महास्कन्ध एवं नव तत्व, षड्जीवनिकायं, अनेकान्त दर्शन की व्याख्या में सप्तभंगी, स्याद्वाद, दृष्टि, चतुर्भंगी, उत्पादव्ययध्रौव्य की त्रिपदी की तत्व-मीमांसा का उल्लेख है वहां सिद्धान्तों को व्यवहार सम्पदा में बदलने का प्रायोगिक प्रशिक्षण भी दिया गया है जिसका प्रमाण है—आधुनिक चार महास्कन्ध वर्जन, जैन-जीवन शैली, नव सूत्रीय जीवन चर्या का प्रावधान। श्रावक प्राचीन मूल्यों का योगक्षेम करे, साथ ही साथ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में युगीन जीवन-शैली के साथ अपने नैतिक दायित्व एवं कर्तव्य को भी बनाए रखे, यही सन्देश है श्रावक सम्बोध का।

श्रावक संबोध में श्रावक का क्या स्वरूप हो? इसकी व्याख्या में आचार्य तुलसी ने आगमिक प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया है। आगमिक युग में तत्वज्ञान और आत्म स्वरूप की अन्वेषणा प्रश्नोत्तर शैली में हुआ करती थी। यह शैली स्वयं से स्वयं को जानने की

मनोवैज्ञानिक पद्धति है। श्रावक भी अपने स्वरूप निर्धारण में स्वयं, स्वयं से प्रश्न करे—मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? कहां जाऊंगा? मेरे लिए क्या करणीय है? आदि-आदि। श्रावक संबोध में एक ही पद्य में अनेक ऐसी जिज्ञासाएं उठाई हैं जिनका ऊहापोह श्रावक के स्वरूप निर्धारण में मुख्य भूमिका निभाता है—

मेरी गति, जाति, काय क्या है? कति इन्द्रिय-शक्ति समासूत हूँ?

पर्याप्ति, प्राण, कितने शरीर? कितने कर्मों से आवृत्त हूँ?

किस गुणस्थान में मैं स्थित हूँ? किस आत्मा में किन भावों में?

दृष्टित्रय ध्यान-चतुष्टक- लेश्या के प्रबल प्रभावों में? (२/२)

श्रावक के चरित्र को मनोविज्ञान की भाषा में दो श्रेणियों में बांटा गया है— विधायक और निषेधात्मक अथवा अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। श्रावक की सही पहचान है—वह भव्य, सम्यग् दृष्टि, परित संसारी, सुलभ बोधि, आराधक, चरम और शुक्लपक्षी होता है।

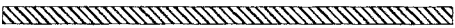
इन अर्हताओं का हेतु क्या है? इस प्रश्न के समाधान में भगवान महावीर ने श्रावक की गुणात्मक चेतना को प्रकट किया है। उन्होंने कहा—जो साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका तीर्थ चतुष्टय का हित चाहता है, सुख चाहता है, पथ्य दुःख का निवारण चाहता है, वह उसके प्रति अनुकम्पित है, उसके निश्रेयस् की चिन्ता करने वाला है। उसके हित, सुख और निश्रेयस् के लिए सदा जागरूक रहता है इसी कारण व्यक्ति में उपर्युक्त अर्हताओं का विकास हुआ है।

श्रावक सम्बोध में जहां तत्त्वज्ञान की गूढ़ता का उल्लेख है वहां जीवन की व्यवहार शैली पर छोटी से छोटी बात पर ध्यान दिया गया है—जैसे प्राचीन परम्परा थी—श्रावक खुले मुंह से साधु सन्तों से संवाद नहीं करता था। इसे अजयणा यानी असावधानी कहा जाता मगर यह संस्कार प्रायः लुप्त-सा होने लगा है। लेखक ने इस विवेकी परम्परा को पुनर्स्थापित करने के लिए प्रेरणा दी—

शिष्टता संयम अहिंसा साधना संस्कार हो. और जयणा सजगता से धर्म का व्यवहार हो ॥

(२/४४)

श्रावक संबोध श्रावकाचार का नवाचार रूप है। लेखक ने उन लोगों की मानसिकता बदलने का प्रयत्न किया है जो बारहव्रती, प्रतिमाधारी, श्रावक नहीं बन सकते। प्रतिदिन सामायिक, सन्त-दर्शन, प्रवचन श्रवण, स्वाध्याय, त्याग, तप आदि धार्मिक उपासना में अपने आपको जोड़ने के लिए समय नहीं निकाल पाते। वे लोग भी जन्मना जैन होने के साथ-साथ

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  89

कर्मणा जैन बन सकते हैं। जैनत्व को नई पहचान दे सकते हैं। लेखक का स्पष्ट संबोध है कि यदि जैनत्व की संस्कृति से श्रावक अपनी पहचान नहीं बना सकता है तो वह पुश्तैनी श्रावक अवश्य बन सकता है मगर पुख्ता श्रावक नहीं बन सकता जबकि आज जरूरत है ऐसे श्रावक की जो दिखने वाले श्रावक ही न हो, सही अर्थों में श्रावक होने का स्वयंभू प्रमाण बने।

साहित्यिक दृष्टि से श्रावक संबोध काव्यात्मक गेय रचना है। इसमें राजस्थानी के गीत, छंद, दोहा, सोरठा, लावणी आदि का प्रयोग है। सभी छंदों में गेयात्मकता है। स्वराभिव्यंजना है। भाषा की प्राञ्जलता एवं अर्थगम्यता में सहज संबोध है। गूढ़ तत्वों को सीधी सरल भाषा में कह देने की विशिष्ट रचनाधर्मिता है। इसमें शब्दशिल्प अर्थवैभव के साथ उतरा है। पद्य रचना में प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषाओं का प्रयोग ही नहीं किया, तुकबन्दी में अंग्रेजी भाषा के शब्दों को भी करीने से बिठाया है

श्रावक संबोध में कथ्य शैली का वैविध्य भी चामत्कारिक है। कहीं प्रश्नोत्तर शैली में तात्विक ज्ञान को समेटा है तो कहीं दृष्टान्त शैली में अनेक ऐतिहासिक प्रसंगों एवं घटनाक्रमों का उल्लेख किया है। जैन दर्शन की ज्ञान-राशि असीम और अथाह है। श्रावक के लिए सम्पूर्ण अर्हत्-वाणी का स्वाध्याय, ज्ञान संभव नहीं, अतः श्रावक के लिए स्वाध्याय का एक संक्षिप्त, सामयिक एवं सटीक पाठ्यक्रम की सूची प्रस्तुत की है जो श्रावक की प्राथमिक शिक्षा का प्रतीक है।

श्रावक संबोध के अन्तिम चरण पर सदियों तक श्रावक समाज श्रद्धा प्रणत रहेगा। क्योंकि आचार्य श्री की यह रचना उनके द्वारा स्वयं संघ को उपहार में समर्पित की गयी है। इस रचना के साथ उनका अनुग्रह और मंगल आशीर्वाद भी जुड़ा है—

श्रावक संबोध संघ में मंगलमय हो। श्री जिनशासन का 'तुलसी' सदा विजय हो।

(२/७२)

श्रावक संबोध उनकी साहित्य रचना की शृंखला में अन्तिम रचना है मगर यह श्रद्धा और गौरव के साथ कहा जा सकता है कि यह उनकी श्रावकों के नाम प्रेरणाभरी अमर कृति है। अथ से इति तक श्रावक के चरित्र को केन्द्र में रखा गया है। इस बात का संबोध दिया गया है कि श्रावक का चरित्र जब हाशिए पर आ जाता है तब अस्तित्व और अस्मिता दोनों खतरे में पड़ जाती है। इसलिए श्रावक संबोध को प्राचीन मूल्यों के योगक्षेम में नए मूल्यों की प्रस्थापना का क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है।

क्षमता, रुचि और विकास के आधार पर श्रावक संबोध चरित्र निर्माण की एक प्रयोगशाला है, क्योंकि चरित्र के निर्माण में व्यक्ति और व्यवस्था दोनों का बदलाव जरूरी है। व्यवस्था बदले और व्यक्ति न बदले तो बुराइयों का प्रवेश रोका नहीं जा सकता। इसलिए हृदय परिवर्तन की बात बुनियादी तत्त्व है। श्रावक संबोध आत्मोदय की यात्रा है। आत्मोदय में आस्था, ज्ञान और पुरुषार्थ की मुख्य भूमिका रहती है। श्रावक संबोध में इन तीनों को प्राण ऊर्जा के रूप में प्रतिपादित किया है।

आज की मूलभूत समस्या है—जीवन मूल्यों के प्रति अनास्था। श्रावक संबोध अनास्था, अस्थिरता और अविश्वास के कुहासे से व्यक्ति को बाहर निकालकर प्रकाश दिखलाता है।

श्रावक कैसा हो? इसका एक मॉडल है श्रावक संबोध। इसमें जीवन का दर्शन और दृष्टि दोनों का समन्वित संदेश है। सिद्धान्त के साथ प्रयोग और परिणाम की बात भी कही है। कहा जा सकता है कि श्रावक संबोध का चिन्तन, मनन और आचरण बुराइयों की घुसपैठ को रोक सकता है।

श्रावक संबोध आकार में छोटा है मगर अर्थवत्ता में बहुत बड़ा। इसकी परिक्रमा लगाते समय यही सोच उठती है— श्रावक की गीता और उपनिषद् है जिसकी हर गाथा सुबह शाम ऋचाओं की तरह श्रावक गाता है। चिन्तन-मनन कर अन्तर्मुखता के साथ कृतसंकल्प होता है।

पुस्तक	: श्रावक संबोध (सभाष्य)
सम्पादक	: साध्वी प्रमुखा कनक प्रभा
प्रकाशक	: आदर्श साहित्य संघ, चुरू, (राजस्थान)
मूल्य	: ४५/- रुपये
सम्पर्क	: जैन विश्व भारती, लाडनूं

सम्पादक—तुलसी प्रज्ञा
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनूं-341 306 (राजस्थान)

साधना की प्रक्रिया

अवैराग्यञ्च मोहश्च, नात्र भेदोऽस्ति कश्चन ।

विषयग्रहणं तस्मात्, ततश्चेन्द्रियवर्तनम् ॥ १ ॥

मनसश्चापलं तस्मात्, संकल्पाः प्रचुरास्ततः ।

प्राबल्यं तत इच्छाया, विषयासेवनं ततः ॥ २ ॥

वासनायास्ततो दाढूर्यं, ततो मोहप्रवर्तनम् ।

मोहव्यूहे प्रविष्टानां, मुक्तिर्भवति दुर्लभा ॥ ३ ॥

अवैराग्यञ्च सर्वेषां, भोगानां मूलमिष्यते ।

वैराग्यं नाम सर्वेषां, योगानां मूलमिष्यते ॥ ४ ॥

विषयाणां परित्यागो, वैराग्येणाशु जायते ।

अग्रहश्च भवेत्तस्मादिन्द्रियाणां शमस्ततः ॥ ५ ॥

मनःस्थैर्यं ततस्तस्माद्, विकाराणां परिक्षयः ।

क्षीणेषु च विकारेषु, त्यक्ता भवति वासना ॥ ६ ॥

स्वाध्यायश्च तथा ध्यानं, विशुद्धेः स्थैर्यकारणम् ।

आभ्यां सम्प्रतिपन्नाभ्यां, परमात्मा प्रकाशते ॥ ७ ॥

श्रद्धया स्थिरयाऽऽपन्नो, जयोऽपि चिरकालिकः ।

सुस्थिरां कुरुते वृत्तिं, वीतरागत्वभावितः ॥ ८ ॥

भावनानाञ्च सातत्यं, श्रद्धां स्वात्मनि सुस्थिराम् ।

लब्ध्वा स्वं लभते योगी, स्थिरचित्तो मिताशनः ॥ ९ ॥

पर्यङ्कासनमासीनः, स्थिरकाय ऋजुस्थितिः ।

नासाग्रे पुद्गलेऽन्यत्र, न्यस्तदृष्टिः स्वमश्नुते ॥ १० ॥

आत्मा वशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम् ।

अजितात्मा विदन् सर्वमपि नात्मानमृच्छति ॥ ११ ॥

सम्बोधि पुस्तक से

English Section

	<i>Page No</i>
1. Jainism and Sāṅkhya	94
2. The Jaina School of Mathematical Philosophy	104
3. Jainism and Modern Life	118
4. Peace Through Science of Consciousness	124
5. Despair (विषाद) as explained by Paṇḍitarāja in Rasagaṅgādhara	136
6. Terrorism and Anuvrat	139

Editor
Dr. Jagat Ram Bhattacharyya

Jainism and Sāṅkhya

– Nagin J. Shah

1. The Sāṅkhya and the Jaina, along with the Yoga and the Bauddha philosophies seem to represent the different branches of the main thought-current of Non-Aryans of India that was prevalent before the advent of the Vedic Aryans.¹ This thought-current went underground in the days of the Vedas but afterwards having gathered strength it seems to have asserted itself and influenced the *Upaniṣads* and *Dharmaśāstras*. That the Sāṅkhya (-Yoga), Jaina and Bauddha philosophies belong to one tradition is suggested by the fact that Mahāvīra, the 24th *Jaina tīrthaṅkar*, was a *sāṅkhyācārya* ub his previous birth² and that Buddha had become Ācārya of Ālāra Kālāma and Rudraka Rāmaputra who were *sāṅkhyācāryas*.³ In this context the declaration of Āc. Śankara that the Sāṅkhya is a *Vedaviruddha tantra*⁴ assumes new meaning and magnitude. Even Bādarāyaṇa declares the heterodox character of Sāṅkhya (*Br. Sū. 1.1.5*). This has prompted me to bring out the points of similarities between the Jain and the Sāṅkhya philosophies.

2. The Jaina and the Sāṅkhya maintain clear-cut dualism. Jaina theoreticians hold that *jīva* and *ajīva* are two radically different elements. Similarly, the Sāṅkhyas contend that *puruṣa* and *prakṛti* are two ultimate reals. Under the head of *ajīva* the Jainas count *dharma*, *adharmā*, *pudgala*, *ākāśa*, and *kāla*.^{*} These are considered to the independent substances. Under the head of *prakṛti* the Sāṅkhyas count *mahat*, *ahaṅkāra*, *tanmātra* and *bhūta*. These are regarded as the evolutes of *prakṛti*. Scholars are of the opinion that *dharma* and *adharmā* come very near to *rajas* and *tamas*.⁵ It is so because like *rajas dharma* causes motion and like *tamas adharmā* causes inertia or rest. And *pudgala* roughly corresponds to *prakṛit*. Both are Matter.

* It is noteworthy that *dharma*, *adharmā*, *ākāśa* and *kāla* are lately recognised independent substances and counted under *ajīva*. But in olden days by *ajīva* was meant *pudgala* only.

3. According to both the Jainas and the Sāṅkhyas, souls are non-material and conscious (*cetana*).⁶ Essentially they are devoid of misery⁷ but they suffer pains and become miserable due to their connection with Matter.⁸ Their connection with Matter is the result of *aviveka* or *mithyātva* which is without beginning but which could be removed.⁹ As a result of this connection there emerge physical and psychical phenomena. According to the Jainas, physical phenomena take place in Matter whereas psychical phenomena take place in soul. They view Matter as the material cause and soul as an occasioning cause in the production of physical phenomena, and soul as the material cause and Matter as an occasioning cause in the production of psychical phenomena.¹⁰ This is the result of their contention that soul is variable constant.¹¹ On the other hand, the Sāṅkhyas consider all phenomena – physical as well as psychical – to be taking place in Matter only. That is, Matter is the material cause of all these phenomena. This is the result of their view that soul is absolutely changeless.¹² But it is noteworthy that the Sāṅkhyas concede that soul experiences the psychical phenomena taking place in Matter (i.e. *citta*, an evolute of Matter) through the process of reflection (*pratibimba*).¹³ And it is interesting to note that the Jainas occasionally declare that these emergent psychical phenomena are material.¹⁴ In this way the difference between these two philosophies with regard to the point in hand is narrowed down. According to the Jainas soul is *kartā*, *bhoktā* and *jnāta*.¹⁵ The Sāṅkhyas hold it to be *akartā*.¹⁶ But it is *akartā* only in the sense that it is changeless.¹⁷ In its mundane state is *bhoktā* and *jnāta*. It experiences *sukha* and *duḥkha* through the process of reflection. The modes of *sukha* and *duḥkha* taking place in material intellect are reflected in soul. This is how it becomes the enjoyer of *sukha* and *duḥkha*.¹⁸ Again the material intellect gets transformed into the form the object which it cognises and this form of intellect is reflected in soul. In this way soul knows external objects.¹⁹

4. The Jainas consider infinite knowledge (*anantajñāna*) to be an essential nature of soul. That is, omniscience is natural to soul whereas other knowledges are contingent upon the veils of material karmas. When these veils are completely destroyed, the natural omniscience shines in its own light.²⁰ On the other hand the Sāṅkhyas do not regard omniscience as natural to soul. It is dependent on *citta* (material intellect). When all the obstructions of *tamas* are overcome the *citta* becomes pure and undergoes transformations of *ananta* objects, and soul (*puruṣa*) possessed of this type of pure *citta* has the *bodha* of *ananta* objects through receiving the reflection of *ananta* modes of the *citta*. Thus in the Sāṅkhya philosophy omniscience is possible through *citta* only. But the *kevala* (free,

emancipated, isolated) *puruṣa* (soul) being completely devoid of *citta* could not have omniscience in that state of *kaivalya*.²¹ In Jainism all knowledges except omniscience are contingent upon soul's association with Matter whereas in the Sāṅkhya all knowledges without exception (i.e. including even omniscience) are contingent upon its association with Matter.

5. The Sāṅkhyas believe that in the process of perceptual cognition sense-organs get transformed into the form of their proper objects as soon as they come in their contact. After that mind operates upon that form presented by the sense-organ and finally there arises a determinate form of that object in the material intellect, e.g. 'this is a pot'.²² Thus the Sāṅkhya accepts formal transformation of the sense-organ and the material intellect. The Jainas maintain that there are four stages of the process of perceptual cognition, viz. *avagraha*, *īhā*, *avāya*, *dhāraṇā*.²³ The Sāṅkhya describes as to what happens to the concerned instruments at the concerned stages, whereas the Jaina philosophy simply describes the development of the cognition itself. The Jainas do not say specifically as to whether or not the mind assumes the form of the object. But it is noteworthy in this connection that Jainas have recognised material *manas* which gets transformed into the form of the object thought of. This becomes clear from their description of *manaḥparyāyajñāna*.²⁴

6. According to the Sāṅkhyas, soul is all-pervading²⁵ whereas according to the Jainas its size is finite and variable, being always co-extensive with the body which it occupies from time to time.²⁶ Let us take note of the fact that what the Jaina theoreticians say logically applies to the mundane souls because the emancipated ones have no body at all. The body, the limiting condition being absent, "the soul should pervade the entire *loka*. But the Jainas do not accept this." They content that the size of the liberated soul is almost equal to the size of the body which it occupied in its last birth.²⁷ It is noteworthy that the Yoga, a philosophical system supplementary to the Sāṅkhya, maintains that *citta* is *saṃkocavikāśīla*; that is, according to the Yoga, *citta* assumes the size of the body which it occupies.²⁸

7. Both the Jaina and Sāṅkhya philosophies believe in the plurality of souls.²⁹ This plurality is not unreal like the plurality of many reflections of one thing. It is natural and real. Hence it is found even in the state of liberation.³⁰ The doctrine of Karma is not compatible with the theory of One Soul. Even the Buddhists who believe in the theory of Karma maintain the plurality of *cittasantānas*.

8. The Jaina and the Sāṅkhya-Yoga philosophies use the term 'kevali' for the emancipated soul. This term denotes both 'isolation' and 'perfection'.

9. Jainism and the Sāṅkhya believe in the doctrine of Karma. Both the systems consider Karmas to be efficient to give their proper fruits to the performer without the agency of omniscient God.³¹ Whatever a living being does is followed by the change in the psychophysical apparatus called *sūkṣma-śarīra* or *Kārmaṇaśarīra*. This change is of the nature of addition, alteration and subtraction of subtle material particles. The material particles that suffer this change on account of the activity of a living being are also called Karma. It is well known that the Jainas recognise material Karmas. But let us note that on this point even the Sāṅkhyas agree with the Jainas. Th. Scherbatsky in his *Buddhist Logic* says : "In Sāṅkhya karma is explained materialistically, as consisting in a special collocation of minutest infra-atomic particles or materials forces making the action either good or bad". (Vol. 1, p. 133, fn. 3).

10. *Kārmaṇa-śarīra* of the Jainas resembles the *sūkṣma-śarīra* of the Sāṅkhya. Both these, *śarīra* are *apratighāti*, *nirupabhoga*, *nitya* and *prati-puruṣabhinna*.³² The Sāṅkhyas hold that there are eighteen constituents of *sūkṣma-śarīra*, viz., *buddhi*, *ahaṁkāra*, *indriyās*, *tanmātras*.³³ The *kārmaṇaśarīra* of the Jainas is constituted of *jñānāvaraṇiya*, *darśanāvaraṇiya*, *vedaniya*, *mohaniya*, *āyu*, *nāma*, *gotra* and *antarāya* karmas. All the eighteen constituents of the Sāṅkhya *sūkṣma-śarīra* are almost covered by these different types of karma.

11. According to the Jainas, subtle karmic matter imparts colours (*leśyā*) to souls. This imparting is carried out not through the process of reflection but through the process of interpenetration. These colours are six in number :

1. white (*śukla*)
2. pink (*padma*)
3. red (*tejas*)
4. dove-grey (*kāpota*)
5. blue (*nīla*)
6. black (*kr̥ṣṇa*).³⁴

"These six types fall into three groups of two, each pair corresponding precisely to one of the three *guṇas* of the classic Sāṅkhya. In sum, the six Jaina *leśyās* seem to represent some system of archaic prototype from which the basic

elements of the vastly influential later theory of the *guṇas* was evolved".³⁵ The Sāṅkhyas too seem to believe in the theory of karmic colours which are imparted to *puruṣas* through the process of reflection. The Sāṅkhya metaphor of pure crystal assuming red colour by the process of reflection when placed before a red *japa* flower is really suggestive of this Sāṅkhya view. "The theory of karmic colours (*leśyā*) is not peculiar to the Jainas, but seems to have been part of the general pre-Aryan inheritance that was preserved in Magadha."³⁶ This theory of karmic colours represent the naive materialistic psychology.

12. We are struck with wonder to find striking similarity between the Jaina and Yoga philosophies. The Jaina concepts of *mithyādarśana*,³⁷ *bandhahetus*,³⁸ *karmāsrava*,³⁹ *saṃvara*,⁴⁰ *saṃvaropāya*, fourfold *bhāvanā* (*maitri* etc.),⁴² fourfold *karmas* (*Śubha* etc.),⁴³ *soparkrama-nirupakrama āyukarma*,⁴⁴ *ihaloga-paraloganivvedanīya kamma*,⁴⁵ *pañcamahāvratā*,⁴⁶ twofold *dhyāna* (*aikāgryam* and *cintānirodha*),⁴⁷ fourfold *śukladhyāna*,⁴⁸ *jātismaraṇa*,⁴⁹ *avadhi*,⁵⁰ *manahpariyāya*,⁵¹ *kevala*⁵² respectively correspond to the Yoga concepts of *avidyā*,⁵³ *kleśā*,⁵⁴ *karmāśaya*,⁵⁵ *nirodha*,⁵⁶ *nirodhopāya*,⁵⁷ fourfold *bhāvanā*,⁵⁸ fourfold *karmas* (*krṣṇa* etc.),⁵⁹ *sopakrama-nirupakrama āyu-karma*,⁶⁰ *dr̥ṣṭādr̥ṣṭajanmavedanaya karmāśaya*,⁶¹ *pañca mahāvratā*,⁶² *samprajñāta-asamp-rajñātasamādhi*,⁶³ fourfold (*samprajñāta*) *samāpattis*,⁶⁴ *pūrvājatiñāna*,⁶⁵ *sūkṣma-vyavahita-viprakṛtjñāna*,⁶⁶ *paracittajñāna*⁶⁷ and *tāarakajñāna*⁶⁸ respectively.

13. The Jainas believe that the ultimate-units of his material world are atoms which are not qualitatively different.⁶⁹ All the atoms possess the qualities *sparsā*, *rasa gandha* and *varṇa*. Over and above these qualities they possess the properties, viz. *snigdhatā* (cohesiveness, principle of attraction) and *rūkṣatā* (aridness, principle of repulsion). And the difference in the degree of their *snigdhatā* and *rūkṣatā* makes possible the composition of atoms into aggregates.⁷⁰ Now let us examine the Sāṅkhya position with regard to this point. The ultimate unit of Matter consists of three *guṇas* because all the three *guṇas* are always found together.⁷¹ Moreover, the Sāṅkhyas should maintain that all of them possess all the qualities, viz. *rūpa*, *rasa*, *gandha* and *sparsā* in potentia; otherwise their theory of *satkāryavāda* would be contradicted. Thus even according to the Sāṅkhyas the ultimate units, say, atoms are uniform. Each ultimate unit of the matter consists of *sattva*, *rajas* and *tamas*. *Rajas* and *tamas* are functionally identical with *snigdhatā* and *rūkṣatā* respectively.⁷² And difference in their degree (*guṇa-pradhāna-bhāva*) causes the formation of different aggregates. The *guṇa-pradhānabhāva* of *sattva*, *rajas*, and *tamas* does not mean that one substance proportionally becomes more than the other two but it means that though the

porportion of the substances remains the same, the degrees of their manifestness or unmanifestness varies.⁷³ This is the natural corollary of the Sāṅkhya view that every *sattva* individual invariably accompanied by *rajas* and *tamas* individuals, every *rajas* individual is accompanied by *sattva* and *tamas* individuals and every *tamas* individual is accompanied by *sattva* and *rajas* individuals. Again, the state of equilibrium necessitates that the individuals of *sattva*, *rajas* and *tamas* are equal in number as also that their degree of manifestness is also equal. But in the state of disturbance, in every evolute or aggregate the individuals of the three must remain equal because it is a rule that an individual of this or that *guṇa* is always accompanied by the individuals of the remaining two *guṇas*. So, what happens in the state of disturbance that the degrees of their manifestness differ. When all the three *guṇas* are of the same degree there is no formation of evolutes or aggregates. Similarly, Jainas contend that when there is a proper difference in the degree of *snigdhatā* and *rukṣatā* possessed by two atoms, then only they can combine and form an aggregate; but two atoms having equal degrees of *snigdhatā* and *rukṣatā* cannot combine. For the formation of aggregates *snigdhatā* and *rukṣatā* the two only being necessary the Jainas have not conceived anything corresponding to *sattva*.

14. The Jainas and the Sāṅkhyas believe in the theory of *pariṇāmavāda*. The Jaina conception of *dravya* corresponds to the Sāṅkhya-Yoga conception of *dharmi* and the Jaina conception of *pariyāya* corresponds to the Sāṅkhya-Yoga conception of *dharmā*. *Dharmi* or *dravya* means substance whereas *dharmā* or *pariyāya* means mode or transformation. A substance is characterised by *ananta pariyayas* or *dharmas*. Both believe that *atīta* mode is not completely destroyed and that *anāgata* mode is not completely non-existent. For both production is not an absolutely new phenomena. Both believe that *kārya* is potentially present in its cause before its actualisation in production.⁷⁴ In the Sāṅkhya *pariṇāmavāda* *guṇa* (quality) is not referred to. Similarly, in old Jaina *pariṇamdrāda* *guṇa* is not prominent. But it is noteworthy that the Jainas recognise only this standard of reality, whereas the Sāṅkhyas recognise two standards of reality – one for Matter and another for Spirit or Soul.

15. Jainism and the Sāṅkhya do not accept the authority of the Vedas. Both denounce the Vedic rituals which involve killing.⁷⁵ Both declare that the means that involve killing can never lead to Liberation. This is so because both are extremely fundamentalist with regard to non-killing. Both maintain that as every act of worldly enjoyment involves killing one should renounce the world and take recourse to asceticism.⁷⁶

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  99

The Sāṅkhya and Jaina opposition to the Vedas and vedic rituals, their belief in the clearcut dualism of Spirit and Matter, their acceptance of plurality of souls, their denunciation of God as a creator of the world and as a dispenser of the fruits of karmas, their fundamentalist attitude towards non-Violence and their belief in karmic colours unmistakably suggest their common Pre-Aryan or Non-Vedic origin.

References

1. "These ideas (i.e. Sāṅkhya-Yoga ideas) do not belong to the original stock of the Vedic Brahmanic tradition. Nor, on the other hand, do we find among the basic teachings of Sāṅkhya and Yoga any hint of such a pāṇtheon of divine Olympians, beyond the vicissitudes of earthly bondage, as that of the Vedic gods. The two ideologies are of different origin, Sāṅkhya and Yoga being related to the mechanical system of the Jains, which, as we have seen, can be traced back, in a partly historical, partly legendary way, through the long series of the Tirthāṅkaras, to a remote, aboriginal, non-Vedic, Indian antiquity." *Philosophies of India*, Zimmer, the Bollingen Series XXVI (1953), p. 281." If Dr. Zimmer's view is correct, however, the pre-Aryan, Dravidian religion was rigorously moral and systematically Dualistic-years before the birth of Zoroaster. This would seem to suggest that in Zoroastrianism a resurgence of pre-Aryan factors in Iran, following the period of Aryan supremacy, may be represented-something comparable to the Dravidian resurgence in India in the form of Jainism and Buddhism." Zimmer : *Philosophies of India*, p. 185, Note 6 by Editor - Campbell.
2. *Āśvśvakacūṛṇi* I. p. 182 & p. 229.
3. *Nava Nalanda Mahavihar Research* Vol. II. p. 48.
4. कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धम्। ब्र. सू. शां. भा. २.१.१.१.।

It is noteworthy that dharma, adharma ākāśa and kāla are lately recognised independent substances and counted under ajīva. But in olden days by ajīva word means pudgala only.

5. "Now Sāṅkhya - Yoga alone of all Indian philosophies has likewise tried to explain me... and rest as being caused by two substantial principles *rajaḥ* and *tama*. For *rajaḥ* is necessary for motion, and immobility is caused by *tama*. Immobility or rest is, however, but one aspect of *tamaḥ*, another is 'inequity' *adharmā*. The character of *tamaḥ* consisting in *adharmā* proves the near relation between Sāṅkhya *tamaḥ* and Jaina *adharmā* and explains at the same why the substratum of immobility has been named by the Jains by the strange name *adharmā* - Studies in Jainism Dr. Hermann Jacobi, pp. 81-86.
6. सां. का. ११। 'उपयोगो लक्षणम्' तत्त्वार्थ सू. २.८। चेतनालक्षणो जीवः..... लोकप्रकाश २.५३।
7. नित्यमुक्तत्वम्। सां. सू. १.१६२। सदैव पुरुषस्य दुःखाख्यबन्धशून्यत्वम्। सां. प्रा. भा १.१६२। तह सोक्खं रायमादा...। प्रवचनसार १.६७।
8. तयोद्गदर्शनशक्तयोरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। योगभा. २.१७ षड्बन्धवदुभयोरपि संयोगः। सां. का. २१। आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः सर्वार्थसिद्धि १.४।
9. तस्य हेतुरविद्या। योगसू. २.२४। मिथ्यादर्शन... बन्धहेतवः। तत्त्वार्थसू. ८.१ बन्धहेत्वभावगिर्जाभ्यां.... मोक्षः। तत्त्वार्थसू. १०.२।
10. ण्वि कुब्बदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णामित्तेण दु परिणामे जा दोहं पि ॥ ८७ ॥



एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।

पुगलकम्मकदाणं ण दु कर स--वाणं ॥८८॥ - समयसार

11. स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता। प्रमाणमी. १.१.४२।
12. सां. कां. १०, ११, २२।
13. सां. प्र. भा. १.८७, योगवार्तिक १.४, १.७।
14. एवं च रागाद्यात्मपरिणामानां पौद्गलिकविपाकजन्यत्वात् 'कारणानुविधायि कार्यम्' इति न्यायात् असद्भूतव्यवहारेणाचेतनत्वमपि सिद्धमिति भावः। अध्यात्मबिन्दुविवरण १.८।
15. तत्र ज्ञानादिधर्मैभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्। शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ॥ षड्दर्शनसमु. ४८। स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता। प्रमाणमी. १.१.४२।
16. अकर्तृभावश्च। सां. का. १९।
17. Hence whatever changes it appears to undergo are explained through the process of reflection in it of the changing citta.
कर्तेव भवत्युदासीनः। सां. का. २०। उपरागात् कर्तृत्वम्। सां. सू. १. १६४।
18. भोक्तृभावात् सां. का. १७॥
अपरिणामित्वात् पुरुषस्य विषयभोगः प्रतिबिम्बादानमात्रम्। - सां. भा. १. १०४।
19. सां. प्र. भा. १.८७, योगवार्तिके १.२; १.७। प्रमा अर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्। योगवार्तिके (१.७) उद्धृतम्।
20. अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दमयात्मने। प्रमाणमी. मङ्गल। तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्। प्रमाणमी. १.१.१५।
21. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानरयानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् योगसू. ४.३१। आवरणेण तमसाऽभिसूतमाबुतरतं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति, तत्र यदा सर्वैरावणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यानन्त्यम्। योगभाष्य ४.३१। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १.३। यथा जपापाये स्फटिकस्यालोहिते स्वस्वरूपेऽवस्थानं तथा वृत्त्यपाये पुरुषस्य वृत्तिप्रतिबिम्बशून्ये स्वस्वरूपेऽवस्थानमिति भावः। योगवार्तिक १.३।
22. सांख्यत. २७। विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिरिन्द्रियवृत्तिः.... युक्तिदी. २८। Also see *Yogasūtra* I. 7 with *Tattvavatsāradī* and *Vārtika*.
23. अवग्रहेहावायधारणाः। तत्त्वार्थसू. १.१५।
24. तत्त्वार्थराजवार्तिक १.२३।
25. निष्क्रियस्य विभोः पुरुषस्य गत्यसम्भवादित्यर्थः। सां. प्र. भा. १.४९।
26. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् । तत्त्वार्थसूत्र ५.१६। अमूर्तस्वभावस्यात्मनोऽनादिबन्धं प्रत्येकत्वात् कथञ्चिन्मूर्ततां विभ्रतः कार्मणशरीरवशान्महदणु च शरीरमधिति तस्तद्दशात् प्रदेश-संहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणतायां सत्यामसख्येययभागादिषु वृत्तिरूपपद्यते, प्रदीपवत्। सर्वार्थसिद्धि ५.१६।
Of course Jains have accepted the possibility of soul pervading the whole Universe (Loka) in *Kevalisamudghāta*.
27. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा ततो य सिद्धाणोगाहणा भवे ॥ ६४॥ - उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६।
28. घटप्रासादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः।...
वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य सङ्कोचविकासिनीत्याचार्यः। योगभाष्य ४.१०। आचार्यः स्वयंभूःतत्त्ववै. ४.१०। अपरे साङ्ख्याः....। आचार्यः पतञ्जलिः....। योगवार्तिक ४.१०।
29. संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसू. २.१०। जीवाश्च। तत्त्वार्थसू. ५३। साङ्ख्यका. १८।
30. संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसू. २.१०। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति बहवः केवलिनः। योगभाष्य १.२४।
31. किञ्च, प्राणिकर्मसव्यपेक्षो यद्यसौ प्राणिनां दुःखोत्पादक इति न कृपालुत्वहानिस्तर्हि कर्मपरतन्वस्य

प्राणिशरीरोत्पादकत्वे तस्याभ्युपगम्यमाने वरं तत्कलोपभोक्तृसत्त्वस्य तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमभ्युपगन्तव्यम् एवगद्ष्टेश्वरपरिकल्पना परिहृता भवति। सन्मतिटीका पृ. १३०। 'कर्मवैचित्र्याद् वैचित्र्यम्' इति चेत् कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन, तदनधिष्ठानमात्रा-देवाचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपि सुकरत्वात्। सां. त. को. ५७। ईश्वरसिद्धेः सां. सू. १. ९२।

32. औदारिकवैक्रियिकावारकतैजसकर्मणानि शरीराणि। परस्परं सूक्ष्मम्। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्। अनन्तगुणे परे। अप्रतिघाते। अनादिसम्बन्धेश्च। सर्वस्य। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्थ्यः। निरुपभोगमन्त्यम्। तत्त्वार्थसूत्र ५. ३६-४४। यथौदारिकवैक्रियिकाहारकाणि जीवस्य कादाचित्कानि, न तथा तैजसकर्मणे। नित्यसम्बन्धिनी हिञ्जिते आ संसारक्षयात्। सर्वार्थसिद्धे ५. ४१। पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् संसरति निरुपभोग भावैरधिवासितं लिङ्गम्। सां. का. ४०.... लिङ्गस्य आसर्ग प्रलयान्नित्यवमाह.... न हि लिङ्गं क्वचिद् व्याहन्यते.... नियतमित्यनेन प्रतिपुरुषव्यवस्थां प्रतिजानाति.... युक्तिदीपिका ४०।
33. महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। सां. का. ४०। महदहङ्करैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। सां. त. को. ४०।
34. सा षड्विधा-कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति। सर्वार्थसिद्धि २. ६।
35. *Philosophies of India*, Heinrich Zimmer, The Bollingen Series XXVI (1953), pp. 229-230.
36. *Ibid.*, p. 251.
37. *Tattvārthasūtra* (with Bhāṣya), १.२; ८.१।
38. *Ibid.*, 8.1.
39. *Ibid.*, 6. 1-2.
40. *Ibid.*, 9.1.
41. *Ibid.*, 9.2.
42. *Ibid.*, 7.6.
43. *Sthānāṅga* (Āgamodaya Samiti Ed.) 4.4.301.
44. *Ibid.*, 2.52.
45. *Dasakāliyasutta-Agastyasīnha cunṇi* (PTS), p. 57.
46. *Tattvārthasūtra* (with Bhāṣya) 7. 1-2.
47. *Ibid.*, 9.27.
48. *Ibid.*, 9.41-40
49. *Uttarādhyaṇa* 19.7-8.
50. *Tattvārthasūtra* (with Bhāṣya), 1.21-23, 28.
51. *Ibid.*, 1. 24-26, 29.
52. *Ibid.*, 1.30.
53. *Yogasūtra* (with Bhāṣya) 2.5.
54. *Ibid.*, 2.3.
55. *Ibid.*, 2.12.
56. *Ibid.*, 1.2.
57. *Ibid.*, 1.12; 2.29.
58. *Ibid.*, 1.33.
59. *Ibid.*, 4.7.
60. *Ibid.*, 3. 22.
61. *Ibid.*, 2.12.

62. Ibid., 2.31.
63. Ibid., 1. 1, 46, 51.
64. Ibid., 1.42-44.
65. Ibid., 3.18.
66. Ibid., 3.25.
67. Ibid., 3.19.
68. Ibid., 3.54.
69. Introduction to Paṇṇavaṇā (Mahāvīra Jaina Vidyālaya Ed.,) p. 291.
70. स्निग्धरुक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानां। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्वयधिकदिगुणानां तु। तत्त्वार्थसू. ५.३२-३५।
71. मिथुनवृत्तयश्च गुणाः सां. का. १२।
72. उपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः...। सां. का. १३। उपष्टमकम् संश्लेषजनकम्। सारबोधिनी (सां. का. १३)।... -मसा तत्र-तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन...। सांङ्ख्यत. कौ. १३। तत्तत्कार्यप्रतिबन्धकत्वं च तमोलक्षणम्। सारबोधिनी सां. का. १३। स्निग्धत्वं चिक्कणगुणलक्षणपर्यायः। तद्विपरीतपरिणामो रुक्षत्वम्। सर्वार्थसिद्धि ५.३३।
73. अन्योन्याभिभववृत्तयः एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते। सां. त. कौ. १३। संयोगविभागधर्माण इतरे तरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेप्यसंभिन्नशक्तिविभागा-स्तुल्यजातीयास्तुल्य-जातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः। योगभाष्य २.१३।
ननु तदा प्रधानमुद्भूततया शक्यमस्तीति वक्तुम्। अनुद्भूतानां तु तदङ्गानां सद्भावे किं प्रमाणमित्याह - गुणत्वेऽपि चेति। यद्यपि नोद्भूतास्तथापि गुणनामविवेकित्वात् संभूयकारित्वाच्च व्यापारमात्रेण सहकारितया प्रधानेऽन्तर्णीतं सद्नुमितमस्तित्वं येषां ते तथोक्ताः। तत्त्ववै. २.१८।
74. (सद्द्व्यलक्षणम्।) उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसू ५.२९। शान्तोदिताव्यपदेश्य-धर्मानुपाती धर्मा। योगसूत्र ३.१४। सां. का. ९।
75. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ सां. का. २।
76. नानुपहत्य भूतानि विषयभोगः संभवति। सां. त. कौ. ५०। उत्तराध्ययनसूत्र अ. २२, गाथा १४-१९।

The Jaina School of Mathematical Philosophy

– Prof. L.C. Jain

1. Introduction

It is due to the credit of Bertrand Russell that a new field of research in Mathematical Philosophy got originated with the publication of his work, "Introduction to Mathematical Philosophy" in 1969, after the dilemma of paradoxes and antinomies in the Cantor's theory of sets. His remark is marvellous, opening a vista in the philosophical studies, "Early Greek geometers, passing from the empirical rules of Egyptian land-surveying to the general propositions by which those rules were found to be justifiable and thence to Euclid's axioms and postulates, were engaged in mathematical philosophy according to the above definitions but when once the axioms and postulates had been reached, their deductive employment, as we find it in Euclid, belonged to mathematic in the ordinary sense."¹ In this way the studies in mathematical philosophy and those in philosophy of mathematics are distinguished, the former being somewhere in the middle, after a certain stage of development in the axiomatics, before deduction therefrom gain impetus.

First of all we are attracted towards the mathematical methods pursued and adopted, both in Greece and India, round about the Christian era. Geometry is intuitionistic whereas algebras and arithmetic are logical, and both enrich the various fields of knowledge, extending them beyond the finite and the limited. The Pythagoreans held, "Then my noble friend, geometry will draw the soul towards the truth and create the spirit of philosophy, and raise up that which is now, unhappily, allowed to fall down"², Plutarch remarked "Plato said that God geometrizes continually." Plato forbade, "Let no one ignorant of geometry enter my door." Newton felt that geometry is founded in mechanical practise and is a

part of universal mechanics. He was the first to derive the laws of motion in the universe by framing differential equations and integrating them in form of geometry of paths and vice versa. The lifelong study by Kepler of the geometrical paths of the heavenly bodies gave a key to Newton to open the lock of the universal law of gravitation. Similarly Einstein took the help from the Riemannian, non-Riemannian and Minkowskian geometries. His logic about the existence of an invariant, led him to the group-theoretic approach in his theory of relativity and ultimately to the unified field theory, though he was successful in part.

In the Jaina school, the philosophical path is approached through two ends. One is through the first eleven *āṅgas*, and then through the twelfth *āṅga* which contains set theoretic approach par excellence.

Even if one concentrates on the theories in astronomy, in India and abroad, we come across with two types of theories, one of which is principle theoretic and the other is construction theoretic. The Jaina theory is principle theoretic and the rest are construction theoretic. Einstein³ opined about the principle theory that it employs analytic method. Its basic elements are not constructed hypothetically in the beginning. It is rather empirically discovered. The basic concepts and principles in such a theory form general characteristic of natural processes. Such a theory gives rise to mathematically formulated criteria. The criteria is required to be satisfied by separate processes or its theoretic representations. This leads the theory to logical perfection and to secure foundation. And if it fails due to inconsistency, the whole structure is to be remodelled. Then it should be supported by experience and it should be logically reconcilable. The principle theory is illustrated in the theory of relativity and in the theory of karma in the Jaina school, elaborated in the commentaries and relevant texts on the *Kaṣāya Prābhṛta* of Guṇadhara and the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Puṣpadanta and Bhūtabālī preceptors, compiled in the South India in the tradition of Acharya Bhadrabāhu and his disciple, the initiated emperor, Candragupra Maurya.

According to Einstein, the construction theory follows the synthetic method. Attempts are made to find out a simple and formal scheme to construct a representation of a more complex phenomena. If there is success in obtaining an understanding a group of natural phenomena, it means that the process has been covered through the constructive theory. The theory is regarded as complete, adaptable and clear, and it could be remodelled without wiping out the whole structure. The kinetic theory of gases is an example.

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  105

Viewed from the above point of view, the Greeks appear to have developed constructive theories for planetary motions with the help of homo-centric spheres in order to account for their irregularities. There was a train of scholars, originated first by Eudoxus of Knidus (C. 3703. C.), a contemporary of Heraclides of Pontus (C. 350 B.C.), who had worked out a heliocentric system of planets. There was a further attempt by Apollonius of Perga (C. 230 B.C.) in form of eccentres and epicycles. Then further work was done by Hipparchus (C. 750 B.C.) and Ptolemy (140 A.D.). In India, we get the first glimpse of such an attempt by Āryabhaṭṭ – I (C. 5th century A.D.).

However, Pythagoras is said to have discovered the geometry of heavenly spirals earlier. So far as the Jaina School of Astronomy is concerned, we find it in the form of spiro-elliptic orbits, an elaborated form of that given in the Vedāṅga Jyotiṣa, wherein there is a unified theory for a diurnal and an annual motion.

2. Principle Theory in Jaina School

The orbital motions of the Sun and the Moon have been described as such in the Tiloyapaṇṇatti, the Trilokasāra, the Sūryaprajñapti, the Candraprajñapti, the Jambūdīvapaṇṇatti saṅgaho, the Loya viyāha (the Loka Vibhāca) and so on. By the time of Yativṛṣabha (C. 5th century A.D.), the ancient Jaina unified theory of planetary motion had become extinct, as per his statement. The *Yuga* system in elaborated form of planetary motion appears from the period of Āryabhaṭṭ, and we could consider as a relic of the ancient Indian unified theory of planetary motion. Perhaps the spiro-elliptic orbital theories of India gave way to the Greek origination of construction theoretic approach. It was perhaps left to the credit and genius of Āryabhaṭṭa - I to break through the orthodox conservative *Yuga*-system discipline, a complex unified structure in India, and to develop his hypothetical constructions, leaving apart the old Jaina spiro-elliptic theory. The Jainas, moreover, had a unified approach, by constructing a model of the universe, incorporating in it their own geography of flat earth and the spiro elliptic orbital astronomy with fluents (*dravyas*) in a mathematico-philosophic perspective. With this base of a cosmological model, the Jaina Philosophy, then enters into the arena of the theory of Karma system, through a principle theoretic approach, where there are indivisible units of various types of karmic phenomena. The approach is through a minimal and a maximal, quantitatively and qualitatively. The minima to the maxima form series of sets,⁶ and the set are given symbols. The symbols are then subjected to logic or logical

*parikarmāṣṭaka*⁷ where eight types of mathematical operations, the addition, the subtraction, the multiplication, the division, the squaring, the extraction of a square root, the cubing and the extraction of a cuberoot.⁸

The units of time begin with the indivisible instant *samaya*, ad-infinitum. The units of space begin with the indivisible *pradeśa* or point, ad-infinitum. Principles of mathematics begin to enter into the field of philosophy, as soon as the various forms of the sets of such units and indivisible-corresponding-sections (*avibhāgī-praticchedas*) are automatically originated.⁹ There are stated various existential sets and their measure is illustrated through simile measure (*upamāpramāṇa*).¹⁰ The number-measure (*saṁkhyā pramāṇa*) also gives the number of members contain in a specific set (*rāśi*). The number measure is not limited to the numerate (*saṁkhyeya*) alone, but extends to the infinite (*ananta*) and various types of the innumerate and infinite lies in between till the total number of indivisible-corresponding-sections of Omniscience (*Kevala Jñāna*) is reached in various types of sequences.¹¹ In the simile measure, a line or an area or a volume defines the number of points provided it is limited. The number is defined through a *sūcyāṅgula*, its square or its cube, and also through a *jaga-śreṇī*, its square or its cube. Thus number measures and simile measures play the role of defining the cardinal or ordinal of a set and not only divergent sequences are framed, but also they are placed in various types of statements of comparability (*alpabahūtvā*), as if written in the modern theory of sets. Thus not only quantities were measured, but also the order in which they stood in comparison to each other. This was the vital step towards a mathematical philosophy.¹² The comparability or order of successor and predecessor may be common for numerate quantities, but it requires a mathematico-philosophic attitude and talent for the innumerate and infinite sets.

3. Mathematical Approach to Logic

After the 18th century A.D. formal logic was not regarded as utilitarian, as there appears to be rare contribution to it from main streams. According to Jowett, logic neither belonged to science nor to art. It was to be learnt by heart and was a compulsory subject in most universities till the advent of Cantor's theory of sets. A revolution in the technique of logic appears to begin with John Hamilton Whately suggested reasoning exercise through pure mathematics and judgement exercise to a later stage.¹³ Sir Hamilton tried to divert the attention from Aristotelian logic towards the principle of quantification of the predicate (1833 A.D.). They very trend appears to be in the Dhavalā commentary and the

commentaries of the Gommatasāra and the Labdhisāra where Artha Saṃdr̥ṣṭi (norm algebraic symbolism), Anka Saṃdr̥ṣṭi (geometrical symbolism) began to play an important role in the theory of karma and beyond.¹⁴

Although Hamilton was against mathematics, yet his principle always got the basis of an equation. With him began the logical calculus through logical notations. It was due to the credit of Augustus de Morgan (1806-1878) that he published a work on formal logic with new perspectives of Aristotelian logic. For him logic was related with words or names, being a type of calculus, with new interpretations of connectives, using probability. This was the beginning of mathematical and symbolic logic.

Leibnitz had originated concepts of differentials along with Newton which awaited revolution for their comprehension. There was no universal agreement on the infinitely increased or infinitely decreased in this theory of calculus. For avoiding these difficulties of the infinitesimals, Lagrange (1736-1873 A.D.) used the geometrical method of prime and ultimate ratios, and the analytical method of derived functions, yet the concept of limit was still hidden. There was also approach through intuitive-geometry which was abandoned by Abel, Gauss, Cauchy and Weirstrass, in their analytical study of infinite series through arithmetization. Further work was done by Dedekind (1831-1916 A.D.) through his method of cut.

It was due to the undying credit of George Cantor (1845-1918 A.D.) who originated the set theory consisting of existential sets, so predominant in the Jaina theory of karma, defining an *extended* number system. He postulated principles for generation of various types of infinite limit number, as found in the divergent sequences (*dhārās*) of the Trilokasāra in Jaina School, while introducing various ordinals and order types which are analogous to the number and simile measures (*saṃkhyāmāna*, *upamāmāna*) in the Tiloyapaṇṇatti. These were meant to serve the purpose of exploring the measures of the existential sets as also found in the Jaina School of Karma theory. He introduced the actual infinities of various types, left for comparability, which brought forth many contradictions and antinomies in the theory of sets. We shall find later on, Vīrasenācārya, refuting such contradictions, and establishing genuine comparability in the domains of various types of actual infinities in the Dhavalā texts, book 3 (op. cit). The main opposition to Cantor's theory of sets was from Kronecker (Professor, Berlin University, 1883), a great supporter of intuitionism, and a great critic of Cantor's set theory who regarded it as fantastic and mystic.

He believed only in the existence of the system of natural numbers and in their construction alone. He held that if existence proofs are to be constructive, then legitimate mathematical theorems cannot be proved only through arguments of a purely logical character. Here there has been a possible limitation over the application of logic, and this was the point where the Jaina school took help to intuitionism as well as logic through various types of symbols, set under various types of intuitionistic and logical or formal approaches.

4. The Advent of Symbolic Logic

It is well known that very little use of symbols was made in the logic of the ancient and medieval periods. It was Leibnitz (1646-1716 A.D.) who on recognizing the importance of a methodical symbolism, introduced the calculus of reasoning. His logical calculus implied a system of signs – an alphabetic system of human thoughts, and established order, symmetry and harmony in logic through mathematical efforts. It seems to be a follow up of the Jaina School of Symbolic Karma theory where the logic was how to optimize the living life of a bios through mathematical efforts, controlling yogic and *Kāṣāyic* operations, setting the effective phases free to operate over and above them as *Pārināmika bhāvas*.

George Boole (1815-1864 A.D.) laid the foundation for Symbolic logic along with the approaches of De Morgan. He originated the calculus of logic with a calculus of sets and an algebra of classes containing operations basic for logical inferences. He found that the laws of thoughts also obeyed the dualistic laws of algebra. He also remarked that logical statements and classes could be treated with similar logical analysis, as a branch of algebra. That is what we find as an essence in the symbolic Karma theory. Here the laws of combinations is vitally important, associating logic and mathematics. Just as Omniscience, in the Jaina School represents the totality of the Universe, Boole took I as the symbol to represent the universe of every conceivable class of objects, whether existent or otherwise.¹⁵ Jevons found that all this work led to mechanical derivation of inference and became the forerunner of the electronic thought machine.

Venn, however, developed the principle of frequency of probability and gave a tracing method of diagrams, proving also the utility of algebra applied by Boole to logic.¹⁶ Peirce introduced the symbol for inclusion, and along with Schroder (1890 A.D.) he made distinction between the proposition and propositional function. A proposition is usually represented by such statements which involve only constants and it is either *always* true or *always* false. But the

propositional function carries statement which involve certain variables. These variables may have *some values* which may be either true and remaining may be false. Thus the calculus of propositions and that of propositional functions got evolved, transforming pure logical forms into mathematical symbols, as in the *Labdhisāra* treating all that which is beyond that in the *Gommatasāra*, Pierce divided the forepredicate into three parts, monadic, dyadic and polyadic, leaving blanks to be filled by relations, maintaining syllogism as an original inference and logic as the science of general laws of symbols. Then the mathematical logic was given a well known form, "Principia Mathematica" by Whitehead and Russell,¹⁷ after the work of Frege who regarded numerals as abstract and objective, existent as concepts and not as ideas as the *añka samḍrṣṭi* in Jaina School. Peano, however went on to analyze the mathematical methods, transforming them into a logical calculus, employing symbols and formulas for developing algebraic derivations. All this show how the Jaina Karma Theory had a objective, and all their methods in mathematical efforts led to their theory of emancipation. We find that Cantor's and Zermelos works were rejected by Poincore and Kronecker, so also was the case with the Jaina theory of karma, in the logical struggles in India. Brouwer, the successor of Kronecker's criticism, found the intuitionism, parallel to logicism of Russell. It restricts the cultural development of mathematics in the regions of the logical universe lying outside the domain of sensical experiences.

Apart from the above two schools, there is the third school of '*formalism*' founded by Hilbert, follower of Peano, 1862-1943 A.D.) regarding symbols and operations as the core of mathematics. He felt that the method of consistency proof of developed to assure whether a model was free from antinomies or contradictions. He fused the axiomatic method with the logistic method, for proving consistency of formulas for finite and transfinite sets. Godel, however, evolved a method for proving a system as consisting of theorems which could be neither proved nor disproved, paving the way for finding out the incompleteness of a system. For a bios, in Jaina school, the Karmic System, actually is incomplete, since beyond this system, exists the system of operations, capable to keep the soul free, for ever, from the karmic state of phenomena. To the logical trends we need add the trends of other sciences, pioneered by Maxwell, Einstein and others who have contributed to the field theories which are moving faster to cope with the brain fields of a bios, which are still in the darker ranges of study.

5. Jaina Mathematico-Philosophic Approach

One can have a look at three different periods for a study of mathematico-philosophic pursuits, from the 3rd or 4th century B.C. However, one can also look into the various achievements in such studies, at the four following periods :

1. The period of canonical principle : from Vardhamāna Mahāvīra to c. 5th Century A.D.
2. The period of the establishment of poly-endism (Anekāntavāda) and Relativism (Syādvāda) : from c. 3rd century A.D. to c. 8th century A.D.
3. The period of establishment of systematic measure (*pramāṇa*) from c. 8th century A.D. to c. 17th Century A.D.
4. The new *nyāya* period : from c. 18th century A.D. uptodate.

The details if the above could be seen in the work of M.K. Jain.¹⁸ We are not concerned here with the non-mathematical details of *Nyāya* as our motive is to search out the mathematico-philosophic pursuits, a completely different unknown aspect, hidden from our view. The works of topmost importance, as the *Parikamma* commentary by Kundakunda, the *Śāmakunḍa Paddhati*, *Cūdāmaṇi* by Tumbutura and that by Samantabhadra, are not available now, though they have been quoted by later authors to be the commentaries on the various parts of the *Ṣatkhaṇḍāgama*.¹⁹

For the purpose of mathematical-philosophy, the works in the Jaina School have the word, "*Artha*", playing the most fundamental role in expressing measure (*pramāṇa*), through various types of symbols (*saṃdr̥ṣṭis*), subjected to mathematical rules and laws. Todaramala²⁰ defined "*Artha*" as the measure etc. of the fluents (*dravya*), regions (*kṣetra*), time (*kāla*) and phases (*bhāvas*). This is perhaps the actual definition, where the measure (*pramāṇa*) found its expression and was challenged by other Indian schools in so far as the quantitative measures were provided in the Jaina School of Astronomy and Karma theory, the material contents of the twelfth *aṅga* in the Digambara Jaina School.

During the first period, the measure and the measurable (*prameya*) formed the fundamental elements of vision (*darśana*) and knowledge (*jñāna*) in the system of decision procedure adopted in the *Nyāya* of the Jaina School. According to Kundakunda, there is knowledge beyond that of the senses and mind. The sensorial knowledge is unable to know the past and the future events, but the para-sensorial knowledge knows all. The bios in measure the same as is its knowledge. Otherwise the bios will be non-conscious in as much as its measure is not equivalent to its knowledge.²¹

The past and future events, though non-existent, yet being direct in knowledge (specifically the Omniscience) form the subject of being existent. One who does not know all simultaneously, knows them in a sequential order, has a knowledge, indirect and non-all-pervasive. Here 'all' stands for the past and future as well as present events and controls of all the existent fluents (*dravyas*).²²

The Āgama (traditional knowledge) in Jainology forms the fifth kind of of measure which is indirect. The existence of an object is self-evident, whether it be known or be unknown. When the object is known, it becomes measurable, and its knowledge is then the measure. According to Umāsvāmī, the learning (*adhigama*) of norm (*artha*) is through measure (*pramāṇa*) and purport (*naya*).²³ This leads to a definition of *Nyāya* which is the act of reasoning (learning) or decision or approach to investigate the norm through its measure and purport.

Yatīvṛṣabha, in the second period, gets an entry into the mathematical philosophy by asserting that the person who does not investigate the (mathematical) *norm* (*artha*) through measure, purport and installation (*nikṣepa*), finds proper as improper as proper.²⁴ He opines that correct knowledge becomes measure and the purport means the attitude of the knower of partial property of an object. Installation stands for the means to know the proposed norm. Thus the learning or decision or investigation or norm (*artha*) through the skill (*yukti*) of measure, purport and installation is called *Nyāya* by Yatīvṛṣabha.²⁵ He attempts to develop logico-mathematical tools for elaboration of the measure theory ; the simile measure and the number measure, further elaborated by Nemicandra Siddhantacakravarti. He states Vardhamāna to be composer of norms (*artha kartā*). He asks the readers to accept a lecture, consistet with the formulas, and not to be obstinate in accepting inconsistent results. It is impossible to prove the invalidity of the traditional lecture through skill. Moreover, there is no rule providing contradiction of abstractions raised by crafty bios in the para-sensorial syllable-norms (*aṅdriya padarthas*).²⁶ According to Siddhasena, an event is not irrelative to a fluent and a fluent is not irrelative to an event (*pariyāya*) According to rule, the proposition of fluent-normed purport is non-object for event-normed purport. Similarly, vice-versa. When the purports (*nayas*) remain in their own limit, they make truth propositions. They form false propositions when they cross their limit. A fluent is as much as there are normed (*artha*) and token (*vyanjana*) events in it course of the past, present and future instants.²⁷

Samantabhadra (C. 2nd-3rd Century A.D.) was a great poet, scholar, mystic and logician as well as prophesier. He established in his monumental works

polyendism, characteristic of relativism, correct and incorrect purports, showing the process how polyendism is applicable to phase-fields and propositional-field. Most of his arguments may be seen in the Svayambhūstotra and Āptamīmāṃsā. It appears that while compiling a commentary on the preliminary volumes of the Śaṭkhaṇḍagāma, he must have observed the mathematical poly-ended objectively inherent in nature. The treatment of fluents measures for their properties (controls) and phases, required a mathematico-philosophic pursuit, as is seen in the Dhavalā texts, and Samantabhadra appears to have been led to a logical methodology, of a semantical character. He recognised the concomitance of various opposite qualitative and quantitative characteristics in an object, and propositionality or otherwise followed relativism.

Haribhadra is also noted for his work on polyendism, confluence as well as measure theory. His contemporary seems to be Akalaṅka, whose Pramāṇasaṃgraha contains the forms of direct knowledge, inference etc., hypotheses and fallacies thereon, characteristic of a discourse and elucidation, the seven combinational situations arising from relativism, seven purports, measure, purport and installation. His commentary on the Tattvārthasūtra explored the scientific sense in philosophy. Jinabhadraṅgi is credited with dealing deeper discourses and systematics of logic in his 'Viśeṣa-āvaśyakabhāṣya.

6. The Mathematico-Philosophic Pursuits

(Virasena, Nemichandra and Kesava Varṇi)

Whereas the decision procedure in philosophy was following a logical trend as above, Virasenācārya (C. 9th century A.D.), was contributing to semantical approach to mathematico-philosophic stream. His extensive Dhavalā and Jaya-Dhavalā commentaries on the Śaṭkhaṇḍāgama and the Kaṣāya Prābhṛta gave a new insight into the theory of Karma system, through mostly numerical and geometrical symbolism. Perhaps he left over the algebraic symbolis notes and comments of his predecessors in these works, due to their complex manoevre. The credit of giving the abstracts of these works in a algebraic symbolism as well as numerical and geometrical symbolism goes to the exhaustive work of Keśava Varṇī (C. 13th century A.D.) and Mādhavacandra Traividya (C. 11th Century A.D.) who might have worked following the commentary by Cāmuṇḍarāi (noted for establishing 57 Gommaṭeśvara Statue as a mathematically aesthetic form) on the Gommaṭasāra, the Labdhisāra and the Trilokasāra of Nemicandra Siddhāntacakravarti (C. 10th century A.D.). Perhaps it was the Vīra mārtanḍi, a commentary in Kaṇṇaḍī, which might have engaged the following centuries up

to Ṭoḍarmala of Jaipur (C. 18th century A.D.), in manipulating the mathematico-philosophic pursuits of Karma theory and beyond through various varied forms of symbolism.²⁸ It seems that the mathematical notes might have been originated with Brāhmī and Sundarī scripts²⁹ invention, needed at their utmost by Ācārya Bhadrabāhu and his initiated disciple (emperor Candragupta), on Karma theory depicted in the Dhavalā and the Jai Dhavalā. There is also the set (rāśi) theoretic approach all through in these texts. Several types of doubts are removed by Vīrasena, as a logician and a formalist, while supporting the āgma or revelational and traditional intuitionistic ancient sources. We need not go into details of the Pramāṇa and the Naya systems which were developed for logic sake alone in both the schools of the Jainas. We shall concentrate on the techniques adopted by Vīrasenācārya. For, by the time of Keśavavarnī, the philosophic pursuits had taken a turn for mathematical rigor alone. The logic used by Keśavavarnī, Muni Nemichandra, Saidhāntī Abhayacandra and Paṇḍita Ṭoḍaramala solved various problems making use of *logical arguments*, approximations, symbols etc., after Mādhavacandra Traividya and Cāmuṇḍarāi.

7. Mathematico-Philosophic Techniques in Vīrasena's works

Vīrasena appears to have sufficient source material before him on logical and other decision procedures for being applied to several mathematical contexts and problems. For he quoted various verses from mathematical and types of texts for validating or supporting his statements, the texts being not available now, except a few in which certain installations may be observed. He mentions about the Kasāyapāhuḍa, Santakammapāhuḍa, Sammaisutta, Kālasūtra, Tattvārtha bhāṣya, Taccatthasutta, Vārgaṇāsūtra, Vedanā Kṣetravidhānasūtra, Appābahuga sutta, Khuddābandha, Jīvaṭṭhāṇa, Tiloyapaṇṇatti, Pariyamma, Piṇḍiya, Viyāhapaṇṇatti, Vayaṇāsutta, Santa sutta, Karaṇāṇiogasutta, Khettāṇiogaddāra, Gāhā sutta, Jīva samāsa, Nirayānbandha sutta, Davvāṇiogaddāra, Paccatthi pāhuḍa, Santa ṇiogaddāra, Cuṇṇisutta, Mahakammapayaḍi pāhuḍa, Vyākaraṇāsūtra, Sutta pottahae, Veyanā, Sārasaṃgraha, Suttagāhā, Uccāraṇā, Kāla vihāṇa, Kālaṇiogaddāra, Padesa bandha sutta, Padesa viraiya sutta, Bandha sutta, Mahābandha sutta, Viyāhapaṇṇatti sutta, Chedasutta, Padesa viraiya appābahuga, Mūlāyāra, Kālaṇiddesa sutta, Khaṇḍagantha, Bhāva vihāṇa, Mūlātanta, Joṇipāhuḍa, Siddhiviniścaya, Cūliya sutta, Bāhira vaggaṇā, Kammavāda. He also mentions the names of some earlier authors relevant to the works as Āryanandi, Āryamaṅṅsu, Nāgahasti, Nikṣepācārya, Mahāvācaka Kṣamāśramaṇa and so on.

He notes that syllable is noted through a word, the norm (*artha*) is decided through the accomplished syllable, tautology follows the norm decision and the supreme benefit follows the tautology.³⁰ That which projects a decision or determination is called *Nikṣepa*, which is classified as *Nāma*, *sthāpanā*, *dravya*, *kṣetra*, *kāla*, *bhāva*. That which approaches the proper decision through observation of *nikṣepa* projected into the pronounced norm-syllables is called purport (*naya*). Again, the *naya* transports a fluent (*dravya*) with many controls (*guṇas*) and their events (*paryāyaś*), from an effect to another, from a quarter to another, and from a time to another, without being perished, naturally, and is called purport.

Explanation : This is not so, because the annihilation of the remaining all karmas is concomitant with the annihilation of the three.

The word "*hetu*" has been used by Vīrasena in two contexts for the study of the principles, motivation may mean, "*hetu*", whereas the decision procedure requires it under the following definition; *hetu* is that symbol which is concomitant with probandum, after being sub-characterized as a characteristic in form of "*reductio-ad-absurdum*". Thus the *hetu* applied for proving self-thesis is probans *hetu*, and that which is applied for invalidating anti-thesis is called fallacy-*hetu*. *Hetu* is also defined as the measure-pentad (*pramāṇa-pañcaka*) which enlightens the *norm* and the soul. The scripture which states the *hetu* is called *hetuvāda*, or hypothesis.³³

The quantity of scripture is numerate relative to alphabets, syllables, strokes (*saṁghāta*), ascertainment (*pratipatti*) and sub-volitional (*anuyogadvāra*) means. It is infinite relative to norm (*artha*).

Relative to fluent measure, there has been approach to fluent bios-stations in forms of numerate, innumerate and infinite. The phase measure is of five types in accordance with five types of knowledge : sensory phase measure, scriptural phase measure, clairvoyant phase measure, telepathic phase measure and omniscient phase measure.³⁴

He has also discussed measurement of a purport and the cause and effect arguments in following pages in the Dhāvalā. Book three of the Dhāvalā texts contains a lot of information about the measures relating to classes of fluents in different control-stations (*guṇa-sthānas*). These are communicated through the tetrad of fluent, quarter, time and phase measures, with respect to the corresponding number and simile measures, The description, though through sentences and syntax, carries with it many manipulations in logarithms to various

bases, surds, indices, fractions and logical procedures applicable for the numerate, innumerate as well as infinite sets, with syllogistic way.

For example. "That which is gross and describable in brief, should be stated first. "For the doubt, as to how time measure is briefer than quarter measure, the explanation is that various topics on world-line (*jaga-śreṇī*) measure and its logarithms, along with those of islands and oceans lead to a greater detail, hence time measure is briefer to state, Yet the aspirant wishes to know as to how the time-measure is fine and the quarter measure is finer because within the innumerate part of (the set of points in angula measure, there happen to be innumerate acons (*kalpas*). The author refutes this as he finds that of this is recognized, then the context of fluent presentation will arise after that of the quarter presentation. He further explains that in a fluent-finger constituted of infinite ultimate particles, the content is only one quarter-fingers, hence it is not appropriate to assert that the object which is formalized to have many points, is fine. The quarter is fine, and fluent is finer, because there are infinite quarter-fingers in a fluent-finger.³⁵

There is a syllogism for the stability of variable sets; "There is always inflow according to outflow of the stable sets, always.³⁶ Thus Vīrasena uses *reductio-ad-absurdum*, method of one to many correspondence, contradiction, hetuvāda, methods of cut, division, distribution, reduction, measure, reason, explanation, abstraction³⁷ and so on for decision, determination, confirmation etc. of mathematical measures, set theoretic approach is visible throughout.

We may conclude, by the following arguments, omitting various logical approaches in the following centuries of the great commentators, commenting upon mathematical and symbolic procedures on *karma* theory and beyond. The following style again confirms the mathematico-philosophic trends of the Jaina school, the style being that used by Vīrasenācārya.³⁸

Doubt : The omniscience tends to with the help of norm, so why should it not be called dependent ?

Explanation : As the tendency of the Omniscience is found in the perished past objects and the non-created future objects, it cannot be stated that Omniscience tends to with the help of norm.

Doubt : If Omniscience tends to in the non-existent, then let it also tend to in the horns of an ass ?

Explanation : No ! just as the horns of an ass have no existence in the present, so also it is non-existent in the past and future in form of energy. As such omniscience does not tend to it.

Doubt : When the past and present events (*pariyāyas*) are present in form of energy in the norm, then why the present events alone are called norm?

Explanation : No ! According to the syllogism; "That which is known is called norm," norm-ness is found only in the present events.

Doubt : Is this syllogism similar for the future and the past events.

Explanation : No ! The acceptance of future and past events succeeds the acceptance of present norm. Or, Omniscience is absolutely independent except of soul and norm, hence also it is called independent, or Omniscience.

Hence, the theory of Karma with all its basic foundation in a mathematico-philosophic form, was gradually taking its shape into a decisive trend, beyond the formal logic, towards a symbolic logic. Russell regarded mathematics as symbolic logic. The *Symbolic Logic* in the Jaina School of Mathematical Philosophy, as appearing in the developed theory of Karma, working as applied mathematics, is out of scope of this lecture. It maybe studied well from the *Artha Saṃdr̥ṣṭi* Chapters in the *Samyagjñānacandrikā* commentary of the Gommatasāra and the Labdhisāra of Nemicandrasiddhantacakravartī, composed by Toḍaramala of Jaipur, the last station in the twenty-two hundred years of tradition, starting from the first station at the Candragiri, Bhadrabāhu cave, Śramaṇabelagola, South India.³⁹

References

1. Russell, Bertrand (1872-1970), *Introduction to Mathematical Philosophy*, Oxford, 1969.
2. Coolidge, J.L., *A History of Geometrical Methods*, Oxford, 1940.
3. Einstein, A., *Ideas and Opinions*, London, 1956.
4. These texts are famous and incorporated in the Dhavalā and Jayadhavalā commentaries of Vīrasena (C. 9th century A.D.) with a follow up by his disciple Jinasena. There is also the Mahabandha. Similarly the Gommatasāra and the Labdhisāra along with their mathematical commentaries.
5. Jain, L.C., On probable spiro-elliptic motion of the sun implied in the Tiloyapaṇṇatti, I.J.H.S., Vol 13, No. 1, may 1978, pp 42-49.
6. Jain, L.C., Set Theory in Jaina School of Mathematics, I.J.H.S., Vol 8, No.1, 1973, pp 1-27.
7. Jain, L.C., *Ganitasāra Saṃgraha* of Mahāvīrācārya edited with Hindi translation, connotation and introductory survey of History of Mathematics, Sholapur, 1963.

– Secy. Mother Universe Foundation
Above Diksha Jewellers
554, Sarafa, Jabalpur-482001 (M.P.)

Jainism and Modern Life

– C.C. Shah, MA., LLB

Jainism is essentially an ethical religion. Like all prophets, and unlike philosophers, Mahavir was more concerned with the problems of life than with metaphysical speculation. Even while reflecting upon life, he appears to be more concerned to find escape from pain and misery rather than to seek positive happiness or pleasure. Unlike Buddha, he did not need direct contact with old age, disease and death to realise the futility of pleasures of life or worldly possessions. Mahavir appears to have been averse by temperament to pleasures of life and worldly possessions. But for his respect for elders, his parents and elder brother, he probably would not have married or waited to renounce the world. He appears to have been of a retiring disposition and renunciation was natural to him.

He was born in an age when *Sannyāsa* and severe austerities were common. But those who preached such *Sannyāsa* and practised austerities did not have the spiritual outlook, or inward looking approach of Mahavir. To Mahavir, *Sannyāsa* and austerities were not an end in themselves but means to spiritual salvation.

Mahavir was firmly convinced that embodied existence was an evil to be got rid of. Body was bondage and the ideal was to be free from bodily existence. Body was an obstacle or hinderance to spiritual realisation. All activities of the body, from breathing to eating and possession of any kind, resulted in injury to living creatures. Hence the only way to spiritual realisation was extreme austerities and renunciation of all activities of the body. Mahavir carried both these principles to extreme limits and logical conclusions.

The most astounding thing about Mahavir is his realisation or discovery that earth, air, fire, water, vegetation, all were full of living creatures. These biological discoveries in an age 2500 years ago is the greatest achievement of Mahavir. It is either intuition or direct realisation. Once this was realised, non-injury to living beings in all forms was an inevitable consequence.

Mahavir inherited a long and well established tradition of non-injury to all living creatures. Twenty-second Tirthankar Neminath renounced marriage to save birds and beasts brought for his marriage festival. Twenty-third Tirthankar Parshvanath saved the serpent pair from fire at the risk of his life. Mahavir carried this great tradition further.

Mahavir derived all other vows and virtues from this one principle of non-injury to all living creatures in all forms of life. *Satya* (truth), *Asteya* (non-stealing), *Brahmacharya* (complete celibacy), *Aparigraha* (non-possession) all logically flow from and are a direct result of *Ahimsā*. Tapa and Samyam, austerities and every kind of restraint in every activity of mind, speech and body are inevitable consequences of the principle of non-injury. The whole of Mahavir's religion or ethics can be summed up in these three concepts of *Ahimsā*, *Samyam* & *Tapa*.

The distinguishing characteristic of this ethical religion is that Mahavir carried it to the extreme limit. The result was renunciation of all worldly activities and engrossment in self-analysis and introspection, Mahavir, unlike Buddha, admitted no compromise. Buddha adopted the middle path - Mahavir carried it to logical conclusion.

The practice of such an ethical code of conduct leads to spiritual individualism and indifference to social activities and responsibilities. It is true that there is a code of conduct for householders गृहस्थधर्म । But the whole emphasis is on मुनिधर्म. गृहस्थधर्म is only a step to मुनिधर्म. This has led to a some-what lop-sided concept of non-injury, and to a great deal of misconception and misapplication of that principle. It has led to contradictions in life. Such an ideal leads to a more negative approach than to a positive content. Active compassion does not find a place in such an ideal. No doubt, practice of the principle of non-injury does not cause any harm to any one but it also does not lead to active compassionate conduct. Efforts have been made to correct this imbalance but not with much success. The result has been dichotomy in life between what is conceived to be religious duty and what calls for social responsibility.

Dr. Albert Schweitzer evolved the basic ethical principle of Reverence for life but he wanted to combine it with what he called life-affirmation, which means full social activity. He was then confronted with, what he called the horrible dilemma of life existing at the cost of life and he could find no way of escape. Mahavir avoided this dilemma by renouncing all worldly activity, which, to Dr. Schweitzer, was negation of life. Schweitzer found greater comfort in Christ's principle of love or Buddha's principle of active compassion which also

preserved Reverence for life. Dr. Schweitzer made no distinction between one form of life and another. Like Mahavir, he accepted the principle of unity of life and maintained that there was no justification to regard one form of life as higher than another. Therefore man had no right to sacrifice life in any form for his happiness. However, Schweitzer was wedded to the Western concept of progress and he wanted progress, both spiritual and material. He could not realise fully the inherent contradiction between the two which was realised by Mahavir. Hence Mahavir's principles of complete *Brahmacharya* and *Aparigraha* were not acceptable to Dr. Schweitzer. Not that Dr. Schweitzer was for pleasures and wealth. He saw the evil of both but was not prepared to renounce them completely as did Mahavir.

Gandhiji made heroic experiment to combine non-violence with worldly activity. He claimed to base it on Bhagwad Gita. It is difficult to trace the roots of non-violence in Gandhiji. Probably, it may be early influence of Jain Sadhus. But undoubtedly at the age of 24, he was deeply engrossed in considering implications of non-violence. When he sought spiritual guidance of Shrimad Rajchandra, from Africa, of the 27 questions which he asked, the last was on non-violence which he put in an extreme form. He asked what he should do, if in a room with only four walls without door or window, a deadly serpent appeared and whether he should kill the serpent. Shrimad gave a characteristic reply. He said it was difficult to advice to allow the serpent to bite. But if he truly realised that soul was different from the body and if he had no attachment to the body, he should allow the serpent to do what he liked. But he said, I can never dream of advising to kill the serpent.

Gandhiji read non-violence in Bhagwad Gita. He regarded the war – like setting of Gita as symbolic of the inner conflict of man. This is not the occasion to discuss how far Gandhiji was right in his interpretation of the Gita in this manner. But Gandhiji was not content with merely preaching non-violence. He was a revolutionary wanting to create a non-violent society and had a complete plan for it. His interest in the realities of life and affairs of the world was intense and he wanted to see a world in which non-violence became the law of life. Gandhiji actively opposed injustice by non-violent means. Mahavir cannot be said to believe that the world can adopt non-violence as the principle of life. An individual can and must, but to be able to practice non-violence, it was necessary to renounce the world and its activities. There was, therefore, no question for Mahavir of opposing injustice.

The metaphysical and philosophical foundations of Mahavir's ethics appear to be an after growth. It is probable that the seeds of it may have been in Mahavir's teaching. But he was essentially concerned with ethical and spiritual conduct rather than metaphysical speculation. The essence of Jain metaphysics is dualism of soul and matter जीव and अजीव। The philosophical system can be said to be pluralistic realism. It recognises infinite number of souls which remain separate from each other even after liberation. Soul and matter are totally different from each other. Matter (Karmic substance) has penetrated the soul from time immemorial and the soul is in bondage because of such influx of matter unto the soul. Though the interrelation of soul and matter is without a beginning, it is not without an end. In fact, the highest ideal of life is to end that relationship for ever and with it, to end the cycle of birth and death. Since matter is foreign to soul, it must be got rid of. Embodied existence is the result of connection of soul with matter. Body and all its activities including those of mind and speech are sources of further bondage. "आस्रव" and "बन्ध"। This influx must be stopped (संवर) and the accumulated weight of Karma should be dissolved (निर्जरा) by Tapas. Every activity of the body, mind and speech, even good activity, involves injury to some living creature and therefore further influx of Karma and Bondage. Hence all such activities should cease and should be stopped. The principles of non-injury and austerity are carried to the extreme limit as a result of this dualistic philosophy and are a direct logical consequence of it. Renunciation of all worldly activities follows as a matter of course.

It is difficult to say whether this philosophical approach influenced the ethical code of conduct or it was vice versa. I believe the philosophical system is an after growth, intended to support and justify the ethical system. But undoubtedly, the metaphysical system has largely influenced and strengthened the ethical.

The three great religions of India – Hinduism, Buddhism and Jainism have more or less a common ethical approach and a common goal. But there is great difference in the emphasis they place on different aspects of the ethical and spiritual path – way to self-realisation and that has made all the difference to their general outlook on life and its problems. Their philosophical and metaphysical systems vary a great deal and that also has made a difference to their ethical approaches. Their views on the nature of ultimate reality have basic differences. Buddha had a somewhat agnostic approach and avoided speculation on the nature of ultimate reality. He was more concerned with immediate problems of life. His approach is therefore more practical with larger social content and more appealing to the mass of people. Hinduism is an ocean with

Shankar's "अद्वैत" and sannyās at one end and caste-ridden ritualistic Brahmanism at the other. Jainism has a clear-cut dualistic approach which involves extreme practice of non-injury and austerity and indifference to worldly affairs.

All three religions are, however, agreed that the pathway to spiritual realisation necessarily involves renunciation or restriction of material possessions, self-restraint in life and feeling of brotherhood with all sentient creation. The five great vows "अहिंसा", "सत्य", "अस्तेय", "ब्रह्मचर्य", "अपरिग्रह" – are accepted by all the three religions as basic to spiritual discipline but the emphasis and practice differ.

Jain philosophy is summed up in "नवतत्त्व" and "षट्द्रव्य"। Common to both and basic is the dualism of soul and matter. "आत्मव" and "बन्ध" are matters of psychology, "संवर" and "निर्जरा" are matters of ethics, "पुण्य" and "पाप" are results of good and bad actions, "मोक्ष" the summum bonum. In "षट्द्रव्य", Time and Space are regarded as reals as also Rest and Motion. These are really concepts of physics and science. They are all characteristics of the phenomenal world. The ultimate reality is beyond time and space, beyond rest and motion. It is transcendent, immutable eternal.

Complete dualism of Soul and Matter and pluralism of Souls even after liberation are matters of philosophical and metaphysical discourse. Some kind of unity, which must be spiritual, appears more probable. There must be a spiritual power maintaining and regulating the whole universe. Soul and matter, if utterly diseparate will not be connected so closely as they are in embodied existence. Subject and object are different but they merge in knowledge. If matter were totally different from soul, both would remain entirely separate and soul cannot even gain knowledge of matter. The fact that soul, not only gains knowledge of matter but is able to discover its laws and control the physical universe, would lead to an inference that there is some kind of affinity and unity between the two and that there is a unity which transcends this dualism.

Those who accept that Mahavir attained omniscience - perfect knowledge - and that what he is said to have revealed is the whole truth and complete knowledge about the ultimate reality, will resent any attempt to raise any comment about the metaphysical system which is associated with Jainism. To them, any other idea is "मिथ्यात्व". To them, any other system is "मिथ्यात्व"। Mahavir's teaching is considered to be preserved in the Agamas. Digambara rejects them. They were written eight centuries after *Mahavir Nirvān*. The works of great Acharyas, Svetāmbara and Digambara cannot be said to be revelations of any perfect being.

I believe that the ethical and spiritual teachings of Mahavir and his pathway – “साधना मार्ग” to self-realisation are profound, born out of great and highest spiritual experience and have eternal value. The metaphysical system which is associated with him bears re-examination. The ethical and spiritual teachings and the metaphysical system need not be made inseparable. Even the ethical and spiritual teachings, eternal and of abiding value as they are in their basic approach, bear re-examination and re-application from time to time. Jain Philosophy and ethics has not received that critical evaluation which could make it ever fresh and living. It has remained static.

One great contribution of Mahavir is non-absolutism in thought, speech and deed (अनेकान्त, नयवाद, समता). Such an approach leads to tolerance (समभाव), charity of heart and humility. This approach, in a way, is another form or aspect of the principle of non-injury. Principle of non-injury becomes truly effective in action, only if there is spirit of non-violence in thought and speech also. If one is dogmatic or intolerant or harbours hatred, it is bound to result in violence of speech and action. This spirit of non-absolutism leads to synthesis of opposite views and in any event, respect for each other's views and feeling of fellowship.

Mahavir's principles “अहिंसा”, “अपरिग्रह” and “अनेकान्त” have greater value and need in the modern age than they had 2500 years ago. Mahavir's principle of *Samyam* has greater relevance and application now than ever before. Man needs to learn self-restraint in thought, word and deed against licence and intolerance which is so widespread. These principles can be the basis of true democracy, socialism and peace. Their application to the conditions of modern life cannot be the same as it was in Mahavir's time. Every great man is conditioned by his time and its needs. Life is too great and complete to remain in straight jacket for all time to come. It demands ever new synthesis from the contradictions it involves and creates. Faith has to be renewed to be living. Spirit may remain the same but it needs new forms. Free thought is the breath of life. Jainism is no exception to the need for critical re-examination of its practices to fulfil the needs of modern life.

These are stray thoughts hurriedly put down on paper. They have been germinating in my mind since years but I have had neither the time nor the ability for a deep and sustained study for a systematic exposition. They are necessarily incomplete and I crave indulgence of the learned, if I have misunderstood or only betray by ignorance. I am neither dogmatic about these views nor do I have a closed mind. I would be content if they lead to a fruitful dialogue.

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  123

Peace Through Science of Consciousness

(Scientific Study in Consciousness)

– Muni Dharmesh and Dr. B.P. Gaur

Without self-realization self-knowledge,
Without self-knowledge self-management,
Without self-management freedom and
Without freedom peace are not possible.

– Lord Mahavira

(Uttarajjayaṇāni - 28/30)

Peace is an outcome of understanding of self and consciousness. Self-understanding leads to better understanding towards others and compassion to all beings. A number of studies have documented a tremendous interest in understanding the phenomena of consciousness and its role if any in life by both philosophers¹ and scientists²⁻¹⁰. However, there is a paucity of studies to determine the properties of consciousness even in the fields of neuroscience, psychology, psychobiology, cognitive science and parapsychology²⁻¹⁸.

According to Jain Philosophy (Lord Mahavira; 599-527 B.C.)

‘जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । जेण विजाणत्ति से आया ।’ (आयारो 5/104)

“The soul is that which cognizes; that which cognizes is the soul. Because it cognizes, it is soul¹⁹.” It is further explained that the soul is invisible entity and its differentiating characteristic is consciousness²¹. The above statements provide the clue that the fundamental source of cognition is the soul and consciousness. However, there is a need to ponder upon what are the properties of consciousness and which of these are involved in cognition?



Properties of consciousness are :

1. Awareness by which it cognizes.
2. Motion of awareness instantaneously towards the object of cognition indifference to space and time.
3. Contraction or expansion of awareness instantaneously as per micro or macro level of the object during cognition.

On the basis of above it can be inferred that –

1. If the awareness is the fundamental source of cognition then consciousness should cognize/perceive/obtain information without sense organs also.
2. If the awareness can reach beyond geography and time instantaneously then it should cognize the object directly indifferent to distance or physical barrier and also obtain the information of past, present or future.
3. If awareness can be contracted or expanded to micro or macro level then it should also cognize directly the microscopic or macroscopic object(s).

Consciousness has faculty to cognise in space and time by means of normal sensory perceptions and or extra sensory perception (ESP). Both are likely to operate in varying proportions depending upon the ability of an individual to apply any one or both. ESP may operate without sense organs and if so it should operate not only in present but in past and future and infact everywhere. During normal sensory perception all the three properties of consciousness are being utilized. It is further assumed that by applying the same properties of consciousness extrasensory perception also can be acquired.

A glance through the literature concerning the ESP researches since 1930, reveals that there are some serious unresolved issues¹²⁻¹⁸, which need attention. Some of them are how does ESP function, what are the situations facilitating or hindering its operation, is it possible to form an experimental design which could be repeated universally so that ESP can be demonstrated or utilized at will?

The authors of this paper feel that a better understanding of consciousness and its properties can help resolving such issues. As assumed above, application of consciousness can play pivotal role in the functioning of extrasensory perception. Then a question arises why it is not seen commonly. The apparent absence of it in general public is primarily due to unsteady state of awareness. Secondly most individuals lack a knowledge of this phenomenon and practice of its application. Hence one is practically unable to perceive it directly beyond sense organs. This faculty of ESP should be operative in varying degree in each individual according to his ability of focussing and maintaining steady state of

awareness. If that be so, and further if steady state of awareness increases, then the faculty of ESP will be evident.

Testing of the ESP by ESP cards is one of the known ways of evaluating this faculty. Therefore, this technique was adopted to test ESP while applying the properties of consciousness at will. If the application of properties of consciousness operates and recorded by the ESP test, significant higher ESP scores should be obtained as compared to non-application thereof. Application is feasible/possible by focussing and maintaining steady state of awareness towards the ESP cards deliberately. This skill of operating ESP can be developed by training and regular practice of meditation. Therefore it is worthwhile to assess this by organizing simple tests.

Scope of Investigation

Ideal subject for the such testing is a person who has some practice of focussing and maintaining his steady state of awareness. Such practice is the part of a meditation. Thus, a meditator should be the ideal subject. Age of 18 years and above will be the ideal age group for this purpose because at this age one can understand the abstract term consciousness, cognition, awareness, etc. Basis of cognition is focusing of awareness towards the target. Therefore, target (card) be placed in front of the subject at least initially as has been done in the present case. So that awareness could be directed towards it easily.

Aims & Objectives

The aims and objectives of this study was to determine whether application of the properties of consciousness can play any role in the operation of the ESP phenomena.

MATERIAL AND METHODS

Target Cards

In this investigation decks of ESP cards (Zener cards) were used as targets. A standard deck of ESP cards contained 5 cards of each symbol, the well known circle, cross, wavy lines, squar and star (25 in all). The symbols were prepared by computer and printed at a printing press, on hard paper cards of size $103 \times 75 = 1$ mm.

Experimenters

Experimenters (who handled tests) were selected from amongst teachers and research scholars of known integrity. They were apprised with the research study and were also trained to handle the experiments uniformly and carefully. Before starting each session, each experimenter conducted piolet tests of 2-3 random subjects in the presence of the authors for their satisfaction that both the

experimenters and the subjects understood the design of the experiment and its implementation.

Procedure

ESP tests were administered to the subjects in two stages with uniform procedures. In the first stage their basic ability of ESP if any, were tested as baseline or pre-testing and in the second stage they were given instructions for applying consciousness while detecting the symbol on the cards as intervention or post-testing.

Stage 1

Before testing, the subjects were shown all the five symbols to memorize and told about the place where the card is going to be kept before him as he would sit for the test with closed eyes. Each one was also provided an instruction sheet about how the experiment will be run. Clarifications were also provided to those who were not clear.

When the tests started, each subject was instructed to sit calmly by keeping the eyes gently closed throughout the session. A calm, quiet and undisturbed environment was facilitated. Before the each run the experimenter shuffled the deck well for the randomization of symbols of the cards. Then without looking at the symbols, he placed the cards downwardly faced (to maintain secrecy) one by one on the table at a distance of about 5 feet from the subject. The subject was called for detecting the symbol on the card, and after listening his verbal response the symbol was confidentially checked and recorded as correct (✓) or incorrect (x) on the record sheet by the experimenter. The same process was repeated with each trial throughout the run. Different deck of cards was used for each run as explained above and the result of each session was prepared on the basis of the total runs.

Stage 2

In the second stage the subject was given a knowledge about the properties of consciousness as explained earlier. It was further discussed how it was planned to test it by applying consciousness spontaneously for detecting a symbol on ESP cards. He was cautioned that he must try to use only his awareness capability and avoid guess work. He was also apprised and given instruction sheet for applying consciousness which consisted mainly to focus and maintain steady state of his awareness at the symbol of the card.

After the first session in order to create greater awareness and orient them better an enquiry was made from each one whether he was able to focus or direct

his awareness only to the symbol on the card or applied guess work and whether he is satisfied about his efforts to apply consciousness and felt physically and mentally healthy during the process of this test. This was just a psychological effort to minimise interference of guess work.

Experiments

In this pioneering and preliminary study to evaluate the predictions made on the ESP test, a series of four experiments (A, B, C and D) were conducted in six months. Three exploratory experiments were conducted with individual meditators and the final one with a group of non-meditators (30 young students).

In order to understand various features of the properties of consciousness first two experiments were conducted on the first author himself. He is a Jain monk and practising Preksha Meditation* regularly for 18 years. He took training of a special technique of Preksha Meditation (Animesh Preksha)** for 3 month and 25 days in 160 sessions each consisting of 10 to 20 minutes to ensure the steadiness of awareness. During this training period Experiment A and Experiment B were conducted. ESP tests were conducted without applying the properties of consciousness (baseline/pre-test) in contrast to applying the properties of consciousness (intervention/post-test).

Experiment - A

This experiment was designed to find out the feasibility and to standardise the procedure for applying the properties of consciousness. The above subject was subjected to the ESP test with the baseline and the intervention comprising a single session without any lapse of time. It was repeated for 20 times with 20 runs in each session as under :

Baseline–Intervention — Baseline–Intervention
(20 times)

It was revealed that testing in this manner did not provide consistent data. It appeared that the effect of application of properties of consciousness were not only discernible during intervention test but this effect continues in the baseline test also. Similarly the period in which baseline was tested (without applying the properties of consciousness) its effect overlapped in intervention test as that followed without lapse of time. Therefore, this procedure of conducting the experiment was not found correct, hence it was modified in the experiment B.

* Preksha Meditation is a science and an art of purifying and steadying consciousness.

** Focusing awareness and maintaining steadiness on a object without blinking eyes.

Experiment - B

It was similar to A, except in place of alternating baseline with intervention, baseline testing was first repeated ten times (each with 20 runs) as pre-test and that was followed after ten days by a similar repetition of intervention as a post-test, as under :

Baseline – Baseline – (10 times) **INTERVAL OF 10 DAYS** Intervention – Intervention ... (10 times).

The results of this test both at baseline and intervention level were consistent hence only these have been recorded here and discussed.

Experiment - C

Having standardising the procedure with consistent results it was thought worthwhile to evaluate three more factors and see, whether this study can be carried out with similar effectiveness if :

1. runs for a session are reduced to ten or even five;
2. only the knowledge of the properties of consciousness is provided to a regular meditator but no special training of meditation i.e., (Animesh Preksha);
3. a householder meditator or even non-meditator(s) are selected as subject(s);

Hence Experiment C and D were designed accordingly :

Experiment B was repeated on a householder meditator, co-investigator (B.P.G.) practising Transcendental Meditation and Preksha Meditation for the last 22 years. Runs for a session were reduced from 20 to 10 only and special training of meditation was also excluded for the subject.

Experiment - D

Having evaluated the procedure on individual meditators with consistent results it was considered worthwhile to evaluate it on non-meditator(s). It was thought that for an individual non-meditator it may not be easy to apply the properties of consciousness by focussing and steadying the awareness on the cards satisfactorily without a long practice of meditation. So it was assumed that in case of non-meditators assessment of operation of ESP faculty would be more reliable if number of replicates are tested and average is taken. Further, it will be more evident if subjects are given the training of focussing and steadying awareness towards the cards itself. An ideal duration of such training for non-meditators would be 20 minutes at a time. Therefore, a session of five runs was planned for training as well as for testing.

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  129

Thus, an another experiment was designed to evaluate the ESP prediction on the subjects of non-meditator group. A multigroup, multi-level pre- and post-design was adopted. After a brief introduction about the purpose of the study and properties of consciousness, a sample of voluntarily interested 30 graduate and post-graduate students of Social Work and Jain studies of Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun, Rajasthan, India, were selected as subjects having an age group of 18-25 in academic year 1997-98. They were divided in two groups i.e. experimental (16 subjects) and control (14). Each subject was tested for to five runs individually (using a separate ESP pack for each run) at pre, post-I and post-II experimental stages. Both the experimental and control groups were asked to detect the ESP symbol of each card individually at the pre-experimental stage without applying the properties of consciousness.

Subsequently, while the control group was not provided any training for application of properties of consciousness and were simply asked to detect the ESP symbols, the experimental group was given a training after pre-experimental stage testing (as per procedure described earlier in stage 2). Training was imparted for 8 days before the first testing (Post I) and again for 6 days before the second testing (Post II). The result of the scoring of each subject was communicated to him only after the last testing.

RESULTS

Results of experiment A are not presented here as these were rejected after evaluation as discussed in the methods. The results of the remaining are presented here experiment-wise.

1. In experiment B of the scores of ESP test ($m=8.21$) were increased significantly ($p<.001$) after intervention as compared to baseline ($m=4.63$) of the monk meditator. (See Table 1.1 and Fig. 1.)

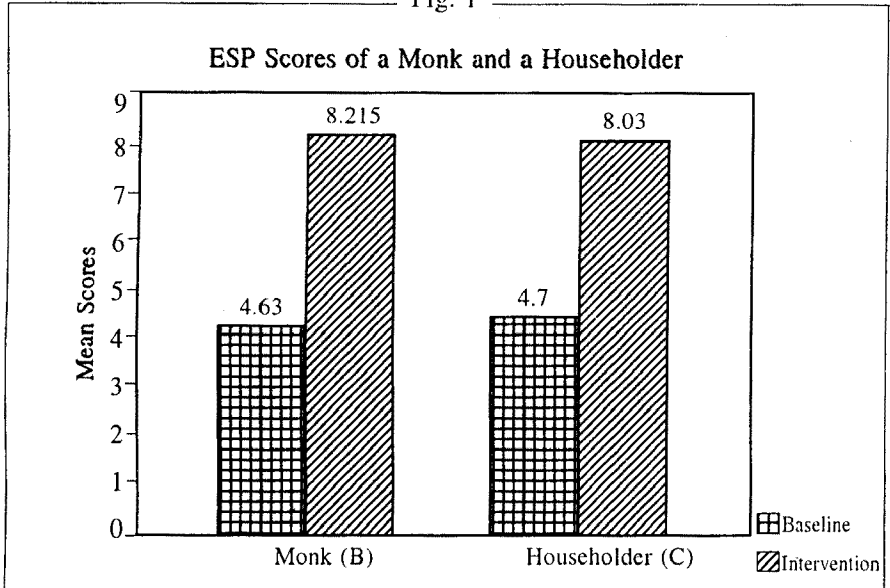
Table 1.1 ESP scores of individual meditators

Exp.	B. Monk	Meditator	C. Household Meditator	
	Baseline	Intervention	Baseline	Intervention
Mean	4.63	8.215	4.70	8.03
'A'		0.104		0.132
Significance		$P<.001$		$P<.001$

Mean and Sandler's 'A' values in Individual Meditators with and without application.

2. In experiment C, the scores of ESP test ($m = 8.03$) increased significantly after intervention ($P < .001$) as compared to the baseline ($m = 4.70$) (See Table 1.1 and Fig. 1.)

Fig. 1



It is noteworthy that the increase in ESP scores remained almost similar irrespective of the fact that study was conducted on a monk or a householder, the runs for test were 20 or 10, and the subject had special training (as in case of monk) or regular meditational practice only.

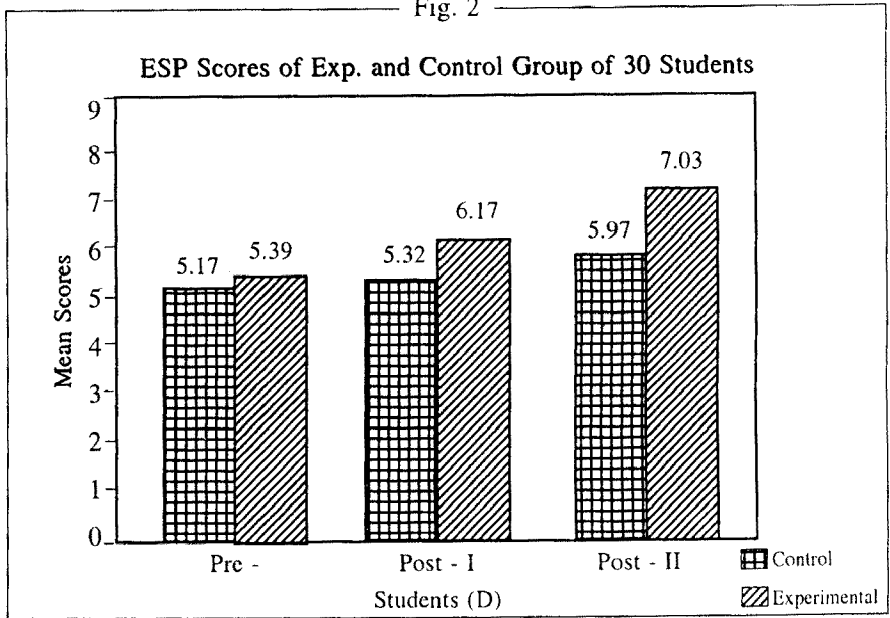
3. In experiment D, on groups of non-meditators, while at the pre-experimental stage there were no significant differences between experimental and control group in respect to their ESP scores, the difference became statistically significant ($P < .025$) at post I experimental stage and further increased ($P < .01$) at post II experimental stage. The data in Table 1.2 indicate that scores in the experimental group raised from $m = 5.39$ to $m = 7.03$ only ($P < .005$) but in the control group it could rise from $m = 5.17$ to 5.97 only (P is not significant). Thus when the study was conducted on a group of 30 young students then also the effect of applying the properties of consciousness was significantly clear as found in experiment B and C. (See Table 1.2 and Fig. 2.)

Table 1.2 ESP scores of non-meditators

Group	Pre-test (without training)	Post I (after 8 days of training)	Post II (after 6 days further training)
Experimental	5.39	6.17	7.03
Control	5.17	5.32	5.97
t	0.812	2.21	2.46
p	NS	P<.025	P<.01

Mean and 't' values in experimental and control groups of non-meditators

Fig. 2



Conclusion and Discussion

In this preliminary study, which is the first efforts of the authors, effect of factors (properties of consciousness) as seen in the results of ESP tests, is significantly clear irrespective of whether it was applied on a monk or a householder or a group of 30 young students. This is noteworthy as the first two categories had some understanding or faith in properties of consciousness, the last category i.e. of the students had no knowledge of these concepts before they were subjected to these tests.

It is also interesting to note that the ESP scores also increased in the control group from pre-experimental stage to post-I and then again to post-II successively. This may be because the inherent faculty of consciousness may start functioning naturally without knowing the procedure or training in activating the properties of consciousness but its level remains very low. On the other hand when the experimental group of students applied ESP with a training or we can say with a deliberate application of properties of consciousness the rate at which the ESP increased in two stages were significantly high. Thus, the faculty of ESP is there and when efforts are made to activate it, it improves as reflected in the ESP scores.

While the ESP scores at baseline of a monk and a householder ($m = 4.63$ and 4.07) as well as the control and experimental groups of students were at par, the later group (both students groups) had a higher score as compared to that of the monk and householder. This may be because in student groups, the number of the subjects was high and some subjects had ESP scores as high as 7.8 (mean) and that may have led to a high ESP scores.

Further the increase in ESP scores of both individual meditators are higher as compared to the students group. This may be because the monk and householder have better ability for applying the properties of consciousness because of their regular practice of meditation.

Feedback of correct or incorrect response of each trial of a subject was not provided during any test or even in training period because it may work as a motivation factor. Contrary to it, authors feel that if ESP exist and properties of consciousness play any role in it then trial by trial feedback may be helpful in understanding the correct application of consciousness and further in the development of the faculty, ESP. It is a matter of consideration for future study.

In this preliminary study only 30 students were selected as subjects that too from one organization but if the number is increased and different groups of students are taken then much more comprehensive results are likely to be achieved and better appreciated. In this study increase in the ESP scores statistically significant but to harness the higher states of consciousness and its faculties like ESP there is lot to be done. Thus, there is a need and scope in the future to conduct such studies to verify the facts and draw conclusions thereof. Secondly this study was conducted by the use of ESP cards only, there should

be several other ways for such testing. Of course, these are the future aims of the authors in the search of truth.

Acknowledgement : The first author is highly grateful to Late His Holiness Acharya Shree Tulsi and present Acharya Shree Mahapragya for their spiritual initiation and guidance. We are highly thankful of Prof. B.C. Lodha, Vice-Chancellor, JVBI, for his advice, encouragement and checking the manuscript of this paper. We are also thankful to the teachers and students who helped us in conducting the experiments as experimentors and the subjects, and all those scholars who offered clarifications and helpful criticisms.

References

1. Mc. Ginn. C. (1982, 96) The Character of Mind (2nd ed) Great Clarendon Street, Oxford Oxford University Press.
2. Cairns-Smith, A.G. (1996) Evolving the Mind: Cambridge University Press.
3. Crick F & Koch. C. (1992, Sep.) The Problem of Consciousness. In Scientific American (pp. 153-159).
4. Fischbach. G.D. (1992, Sep.) Mind and Brain, Scientific American, (pp. 48-57).
5. Shatz. C.J. (1992, Sep.) The Developing Brain. Scientific American. (pp. 61-66).
6. Zeki Semir (1992, Sep.) The Visual Image in Mind and Brain, Scientific American, (p. 7).
7. Eric R. Kandal & Robert D. Hawkins (1992, Sep.) The Biological Basis of Learning and Individuality Scientific American, (pp. 79-86).
8. Penfield, W. (1975) The Mystery of the Mind; Princeton, New Jersey : Princeton University Press.
9. Valentine, E.R. (1992) Conceptual Issues in Psychology (2nd ed.) 11 New Fetter Lane, London : Routledge.
10. Legg, C.R. (1989) Issues in Psychobiology, 11 New Fetter Lane, London : Routledge.
11. Garnham Alan (1991) The Mind in Action – A Personal View of Cognitive Science, 11 New Fetter Lane, London : Routledge.
12. J.B. Rhine
हिन्दी रूपान्तरण द्वारा – अनुवादक डॉ. ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव, मन के नये क्षितिज (संस्करण 1973) ड्यूक प्रयोगों की कहानी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
13. James C. Crumbaugh The Indian Journal of Parapsychological Research Vol. 5, 1963-64 No. 1 Rajasthan University, Jaipur.
14. Koestler, A. (1972) The Roots of Coincidence New York : Vintage Books.
15. Kelly, E.F. & Locke R.G. (1981) Altered States of Consciousness PSI : An Historical Survey and Research Prospectus, 228, East 71st Street, New York : Parapsychology Foundation, Inc.

16. **Palmer, J.** (1984) Criticisms of Parapsychology : Some Common Elements. In Shapin, B. And Coly. L. (Ed), Current Trends in PSI Research, New York Parapsychology Foundation, Inc.
17. **Sybo A. Schouten** (1984) A Different Approach for studying PSI. In Shapin, B and Coly, L. (Ed) Current Trends in PSI Research, New York : Parapsychology Foundation, Inc. (pp. 27)
18. **Morris L. Robert** (1990) The Parapsychology Challenge, In Scott. A (ed.) Frontiers of Science, Basil Blackwell, Oxford, UK.
19. **Acharya Mahapragya** (ed) & **Muni Mahendra Kumar** (English Translator) (1981) Ayaro, Jain Vishwa Bharati, Ladnun (Raj.) India 5/104
20. **Acharya Mahaprajna** (ed.) Uttarajjayanani (1993, 2nd ed.), Jain Vishwa Bharati Institute, Ladnun (Raj.), India
21. **Dr. S.C. Jain** (1978) Structure and Functions of Soul in Jainism; Bhartiya Janapith Publication, New Delhi-1, India (pp. 80).

Despair (विषाद) as explained by Paṇḍitarāja in Rasagaṅgādhara

– Dr Dhananjaya Bhanja

1. Introduction

In Sanskrit Poetics, the major qualified objectives such as the cause of the poetry, the definition of the poetry, its division, the nature of *rasa*, the poetic merits (*guṇa*), the blemish (*doṣa*) etc., hold uniqueness in their respective applications in particular. Such one is mood or (*bhāva*). Since the starting of this very tradition from Bharatamuni to the modern rhetoricians, this concept of mood or '*bhāva*' is narrated in such a systematic way, that covers with large numbers from time to time. Our present study based only on Paṇḍitarāja Jagannatha's (= henceforth PR) original text '*Rasagaṅgādhara*' (RG). According to PR, there are 34 '*bhāvas*' namely (1) Joy, (2) Recollection, (3) Bashfulness, (4) Perplexity, (5) Steadiness, (6) Apprehension, (7) Weakness, (8) Wretchedness, (9) Anxiety, (10) Intoxication, (11) Fatigue, (12) Arrogance, (13) Sleeping, (14) Judgement, (15) Sickness, (16) Fright, (17) Dreaming, (18) Awakening, (19) Resentment, (20) Dissimulation, (21) Ferocity, (22) Madness, (23) Moribundness, (24) Deliberate, (25) Despair, (26) Longing, (27) Excitement, (28) Stupor, (29) Indolence, (30) Envy, (31) Epilepsy, (32) Inconstancy, (33) Despondence and finally (34) Love i.e. '*rati*'¹.

Among these 34 '*bhāvas*', one important mood is despair i.e. विषाद , which needs to be clarified due to its semblance or may be its submission with some other moods.

Definition of Despair Mood

“The repentance caused by the non-availability of desired objects, crime done towards King, Teacher, etc., is (विषाद)².

136  तुलसी प्रज्ञा अंक 109

Example

After the fall of son of the Sun-God (*Karna*), and after the rising of the Pāṇḍavas, how, even now, is the life of Duryodhana not going?³

Basically, the authors first give the definitions before showing some supportive examples for their favour. Such tradition is accepted here by PR. Now, he gives this above example to keep intact the basic nature of 'विषाद' as a prime mood. In this verse, the 'विभाव', the 'अनुभाव' etc., are shown distinctly as PR says, the seeing of ones own fall and rising of others is excitant i.e., विभाव. Further the seeking for the loss of life and the facing downwards etc., caused by that, are ensuants i.e., अनुभाव⁴.

Cleverly PR starts his arguments with his opponents by showing the various objections with his masterly knowledge that, those are thinking that this mood 'विषाद' should be merged or have some similarity with other moods are not correct. It cannot be included with other moods. Thats why PR takes four major ones namely fright (त्रास), anxiety (चिन्ता), sickness (दैन्य) and वीररस ध्वनि. Now, we hereby give these four objections one by one.

- (a) **त्रास** : There is no possibility of doubting the suggestion of the emotion or mood of 'fright' here, due to the absence of even little fright in the case of Duryodhana, the great fighter.⁵
- (b) **चिन्ता** : The suggestive mood of anxiety also cannot be doubted, because of his promise, namely, I would be killed after fighting (or, fighting is his born-taught habit).⁶
- (c) **दैन्य** : Even the suggested mood of wretchedness need not be doubted, because of the non-consideration of the danger, even in the destruction of the whole army.⁷
- (d) **वीररस ध्वनि** : And finally, the suggested heroic rasa also cannot be doubted, because of the lack of enthusiasm towards downfall of enemies life, resorting to death.⁸

Ater explaining the details about the natures of various moods as regard to despair (विषाद), now PR quotes a beautiful verse to defend his own views and to make 'विषाद' a distinct mood for the realisation of sentiment or 'रस'. The following verse which is quoted to show the importance of 'त्रास' only, where 'विषाद' is not developed properly.

“O charioteer, slow down the speed of the cruel horses, moving like wind, I do not want to see the battle. The dreadful noise of the kings, whose hands are like the angry serpents, is termenting my ears.”⁹

Here, due to the realisation of fright alone and due to the non-realisation of despair (विषाद), or due to its negligible realisation, it is (a case of) fright alone. Because, it is not fit to be treated as suggested sense or suggested due to the propriety of supportiveness (of that).

References

1. RG; I; Chowkhamba Vidyabhavan, Varanasi, 7th edition 1990; p. 297.
2. “iṣṭasidhi-rājagurvadyaparādhjanyo 'nutāpo viṣādaḥ””, ibid, P. 344.
3. “bhāskarasunavastam, yāteyāte ca pāṇḍavotkarse: duryodhanasya jivitaṁ, kathamiva nāddyāsi niryāsi”, ibid; p. 344.
4. atra svāpakarṣa parotkarṣa yordarśanaṁ vibhāvaḥ, jivita niryā nasainṣa, tadākṣiptaṁ vadanamānadi ca anubhāvaḥ; ibid; p. 345.
5. na cātra trāsabhāvadhanitvaṁ saṅkyaṁ, paravirasya duryodhanasya trāsalesasyāpi ayogāt; p. 345.
6. nāpi cintādhvanitvaṁ, yuddhvā marisyāmiti tasya vyavasāyāt; ibid, p. 345.
7. nāpi dainyadhvanitvaṁ, sakalasainyakṣayepi vipadastenāganāt; ibid, p. 345.
8. na vā vīrasadhvanitvaṁ, maraṇasya saraṇikaraṇe parāpakarṣajivitasyotsāhasya abhāvāt; ibid, p. 346.
9. “ayi pavanarayaṇaṁ, nirdayanam hayanam, slathaya gatimaham, no samgaram draṣṭumihe, śrutivivaramami me dārayanti prakupya – bhujaganibhabhujanam bahujanam ninādaḥ”; ibid; p. 346.

C/o Smt. S. D. Srivastav
JNV – Sangali
Tal – Sawantwadi
(Distt.) Sindhudurg - 416531 (M.S.)

Terrorism and Anuvrat

– Dr Anil Dutta Mishra

1. Introduction

As the 20th century is slowly receding to the past and the 21st is at the civilization's doorstep, human beings, under the threat of terrorism, are compelled to sit up and reassess their own institution, social structure and future course of action. The present world is passing through value crisis which has pervaded all sphere of human activities whether it is political, social or economic. We have full-fledged schools of terrorism in many countries. The terrorism is on rise. It transcends national boundaries and has international ramifications. Every country is facing problem of terrorism. No day passes without witnessing a horror of mass killing and counter killings. The intensity and form of terrorism vary from one country to another country and period to period. But one can make an axiomatic proposition that the structural violence is increasing day by day and society cannot hold the human groups in peace and harmony when structural violence is increasing. Today, both at national and international level, the situation is grim. At the national level, economic exploitation, social inequality, religious intolerance, caste-conflicts, unscrupulous race for political power and linguistic fanaticism and chauvinism, are playing havoc with the lives of people compelling everyone to live in the grip of insecurity and threatening the very integrity of the nation. At the international level the threat of nuclear terrorism of future is hanging like a Democles sword.

We cannot erect the city of peace on the foundation of violence. Similarly, terrorism cannot be stopped on the basis of use of force. If mankind is to live in peace and achieve progress in all spheres, it has to eschew violence; it has to develop a way of life anchored in the philosophy of love, non-violence and co-operation. We should be cautious of those who want to reach heaven by creating a hell on earth.

तुलसी प्रज्ञा अप्रेल—सितम्बर, 2000  139

It is high time for the individual to change the chemistry of thought and action through Anuvrat, and work for promotion of world peace. We have to start from somewhere to overcome the hurdles coming in the way of promoting world peace.

Concept, Characteristic and Typology

Terrorism has been defined variously by authors, and international conventions, but still no universal acceptable definition has come up. Terrorism is the use or threat of violence against small numbers to put large numbers in fear; or as well put by an ancient Chinese philosopher : 'Kill one, frighten 10000'. 'Convention on Prevention and Punishment of Terrorism 1937' have defined international terrorism as "criminal acts directed against a state of intended or calculated to create a state of terror in the minds of particular persons, groups of persons or the general public."² On the other hand in 1986 U.S. Department of State Publication uses new, broader definitions of terrorism which follows : "Terrorism is premeditated, politically motivated violence perpetrated against non-combatant targets by subnational groups or clandestine state agents, usually intended to influences and audience."³ The wholistic definition of terrorism may be as the attempt to achieve political, economic, or religious change by the actual or threatened use of violence against persons or property; partly at destabilizing the existing political social order, but mainly at publicizing the goals or cause espoused by the terrorist; often though not always, terrorism is aimed at provoking extreme counter-measures which will win public support for the terrorists and their cause : terrorism will be perceived by its practitioners as an activity aimed at correcting grave injustices which otherwise would be allowed to stand.⁴

Terrorism has become a universal phenomenon in contemporary industrial society. By manipulating fear in a special way, terrorists have been able to affect political as well as social behaviour in a fashion totally disproportionate to their numbers. All violence, became unpredictable, as Hannah Arendt⁵ has reminded us. Most concepts of terrorism include at least some of the characteristics.⁶ (a) violence; (b) political motive; (c) objective to instil fear, to terrorize; (d) threat is unpredictable, no one can feel secure; (e) targets are symbolic, any representative of a 'hated' category is a legitimate target; (f) the methods used are unusually brutal and are not constrained by the rules of war; (g) compliance with demands does not guarantee a reduction in the level of violence; (h) publicity is a part of the coercive strategy; (i) it is planned and executed in secret; (j) it is a collective act; and (k) it can involve weapons of unusual sophistication.

We have had a great many instances and forms of terrorism. Anarchists, Separatists, Marxists – Leninists, reactionaries and every conceivable brand of anti-imperialist and national liberationist directly or indirectly influence Terrorists. Their intellectual and spiritual mentors include a gallery of heroes featuring Backhunin, Marx, Lenin, Trotsky, Sorel, Marighella, Mao, Giap, Fanon, Marcuse, Malcolm, Guevera, Debray, and Guillen.⁷

The six principle models of terrorism propounded by William L. Waugh. Jr may be very useful of understanding the concept of terrorism which as follows :

1. The revolution or national liberation model,
2. The civil disorder model,
3. The law enforcement model,
4. The international conflict or surrogate warfare model,
5. The human rights or repressive violence model, and
6. The vigilante model.

Origin of Terrorism

The origin of the phenomenon of terrorism is unclear, not a recent one, it is older than the ancient civilizations of Greece and Rome. Human history has been replete with varied terrorist activities. Political persecution of Pandavas or the terrorist activities of Rakshas can be traced back to epic myths. Medieval world history has uninterruptedly witnessed the killings and assassination of kings and their brothers either in a bid to usurp power or to maintain the hegemony through fratricidal wars.

State terrorism cause the second world war, costing in human sufferings to lives of more than lakhs of people apart from their death. Modern terroristic violence, however, has generally been characterized as a post-world war II development, albeit occasionally traced to the terror implicit in Germany bombing of London, the Allied bombings of Dresden and other cities, and the U.S bombing of Hiroshima and Nagasaki. The military origins of contemporary terrorism may also be discerned from the increasing fuzziness between combatants and non-combatants. Civilian populations are targets in both terrorism and nuclear warfare.⁸

Rising population, increased poverty and scarcity of resources, racial tension, inflation and unemployment, increased tension between the 'have' and 'have-not' nations, waves of refugees shoved about by wars and repression, immigrants

moving from poorer states to wealthier ones – often bringing along the conflicts of their home countries - sometimes causing resentment among native citizens, rapid urbanisation, the disintegration of traditional structure, the emergence of single issue groups, the rise of aggressive fundamentalist religious groups or religious cults, economic disparities, regional imbalance and state sponsored violence are the most important causes of mushrooming of terrorism in the contemporary world.

Satish Chandra has described six factors which initiated and contributed to the rise and growth of terrorism – (a) Historical injustices; (b) Colonial factor; (c) Domino Syndrome; (d) Frustration against corruption and autocracy; (e) Technological advancement and (f) cheapest instrument of bargain.

Ideology and ethnic nationalism have been two major engines of modern terrorism. Authorities on terrorism have identified state sponsorship, ethnic and religious fanaticism as the most likely sources of future terrorist.

Terrorism is a complete phenomenon with social, political and economic factors behind it. With society influx, relationships changing, traditional income relativities breaking down, conspicuous consumption abounding and ostentation the rule, relative deprivation is far more visible to the individual and becomes a cause for dissatisfaction. The number of people dissatisfied with their economic status has grown. It is not even those in abject poverty that are behind the growing social tensions in the society but the ones who have risen somewhat, but less than what they had to fulfil their rising expectation. In other words, it is the growing economic disparities, rising aspirations and the lack of adequate opportunities to fulfil them that may be behind the growing social tensions which ultimately leads to the spread of terrorism in entire world.

Anuvrat way out

The terrorist power grows in arithmetical progression where as the state power, in the age of science and technology can grow in geometrical progression. One fact is very clear that both the power of state and terrorist is increased. Ultimately, problem of terrorism can not be solved by violent means. I personally believe that good ends can be achieved only through good means. Violence leads to counter-violence which never ends. Terrorism is anti-civilization and anti-humanity. Hence we have to bring down the terrorism and change the behaviour of terrorist through Anuvrat i.e. small vows. It is both an all-comprehensive and all-inclusive ideology. It provides each and every aspect of society, viz. economic,

social, ethical, moral and religious. In Anuvrat philosophy man is the source, the centre and purpose of all economic and social life. Anuvrat believe that the behaviour of human being can be changed or molded through practise of small vows and training of non-violence. Life without vow is like a ship without an anchor or like an edifice that is built on sand instead of rock. A vow is a deliberate commitment to a moral principle. A vow imparts stability, ballast and firmness to one's character. Vows are thus a sign of the fullness, intensity and authenticity of personal commitment to chosen ideals and social ends. A vow means unflinching determination, without which progress is impossible. In other words a vow is a way of binding oneself to help oneself, a means of measuring the trust one can place on oneself.

The Anuvrat movement was started by late Acharya Tulsi in 1949 at Sardarshahar, Rajasthan, as ethico-socio movement to save humanity from catastrophe and to develop courage, strength, virtue, ability and character building in the human beings. Terrorists are mislead youth or people. They need proper training and change of their perception. For them Anuvrat will be very useful and effective means of social change and fight against all types of injustice by non-violent means only: Anuvrat is a powerful tool for the change of human perception. If we teach the principles of Anuvrat to terrorist their perception will be surely changed. Because Anuvrat is a process through which power of body, mind and culture are strengthened, Anuvrat brings, head, heart and hand together of the individual. It helps the human beings to achieve specific goal. Anuvrat helps in the restoration of pure spiritual consciousness. The fact is that it is inner conflict in man that is at the root of conflicts in society. Since war begins in the minds of men, it is in minds of men that defence of peace must be constructed. Through Anupreksha it is possible to change the mind of man and to ensure everlasting peace. The main purpose of Anuvrat as a part of education is to develop individual and through him the society. The need of the hour is therefore to lay more and more stress on the preservation of value. To achieve this our Institution have a unique technique of training in non-violence and Preksha Meditation, which was developed by Acharya Mahaprajna. Through these techniques one can achieve self-realization, mental peace and integrated personality development through attitudinal change and behavioural modification. The following fourfold path is very effective way to root out violence from society.

- Anekantic view : To see all things from different angles. Respect the views of others.
- Right thinkign : To think rightly, avoid living in past. Be optimistic.
- Simple Living : For simple living, avoid unnecessary, artificial expenditure. Stop pomp and show. Say no to evil and always be ready for good works.
- Preksha Meditation : To have a peaceful mind and to be goal-oriented and lead a pure and humane life.

Conclusion

The problem of terrorism, thus with multicoloured facts needs multipronged efforts, namely the development of operative international law, amendments in domestic laws and its vigorous implementation, political co-operation amongst states, and marshalling of economic reforms, along with maintenance of constant pressure of law and order machinery upon terrorists. At the same time Government must have a clear political aim as well as policies to defeat terrorism and win the sympathy of the local people. Because police alone cannot be (able to) expected to take the responsibility of sorting out the results of wrong political and economic decisions taken by the government. Apart from that it needs corrective measures i.e. the adoption of Anuvrat principle in all spheres.

References

1. Richard Clutlerbuck, The Future of Political Violence : Destabilizaton, Disorder and Terrorism, Macmillan, London, 1986, p. 21.
2. Brain M. Jenkins, "International Terrorism : A New Mode of Conflict", in David Carlton and Carlo Schaerf (ed.), International Terrorism and World Security; pp. 13-14.
3. William L. Waugh Jr., Terrorism and Emergency Management Policy and Administration, Marcel Dekker, Inc. New York, 1990, p. 103.
4. Burleigh Taylor Wilkins. Terrorism and Collective Responsibility, Routledge, New York, 1992, p. 2.
5. Hannah Arendt, On violence, Harcsturt Brace and World, New York, 1970, p.5.
6. S.C. Tiwari (ed.), Terrorism in India, South Asian Publishers, New Delhi, 1990, p.xi.
7. Louis Rene Beres, Terrorism and Global Security : The Nuclear Threat, Westview Press, London 1987, p.7.
8. William L. Waugh Jr, op. cit., p. 42.
9. Satish Chandra, International Terrorism and its Control, Vohra, IIIrd session, Allahabad, 1989, p. 19.

– Asstt. Ditector
Gandhi National Museum
Rajghat, New Delhi

“समाज का मूल व्यक्ति है और व्यक्ति का मूल चैतन्य। चैतन्य की पवित्रता से व्यक्ति और व्यक्ति की पवित्रता से समाज पवित्र बनता है। पवित्रता का आचरण वैयक्तिक होता है और उसका मूल्यांकन सामाजिक।”

- अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ :

श्री तोलाराम हंसराज चेरिटेबल ट्रस्ट

C/o हंसा गेस्ट हाउस

आचार्य तुलसी शांति प्रतिष्ठान के पास

नोखा रोड

पो. गंगाशहर, जिला बीकानेर (राज.)

फोन : 272264

“व्रत आत्म-संयम से आते हैं। आत्म-विकास के लिए संकल्पपूर्वक स्वीकार किए जाते हैं। व्रत की पहली भूमिका है, श्रद्धा का जागरण, मध्यवर्ती है स्थिरीकरण और अन्तिम है आत्म-रमण।”

- अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

With Best Compliments From :

AMIT - SYNTHETICS

Shop :

W-3207, Surat Textile Market

Office :

402, Anand Market, Ring Road, SURAT-395 002

Phone : 622076, 625680, 622027 • Fax : 0261-636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST

W-3207, Surat Textile Market, Ring Road

SURAT

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST

11-A, B, Sai Ashish Society

Udhava Magdalla Road

SURAT

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित